छठा अध्याय

निर्मल वर्मा के यात्रा-वृतांत: आधुनिक और उत्तर-आधुनिक संदर्भ

1) चीड़ों पर चाँदनी:

'चीड़ों पर चाँदनी' निर्मल वर्मा के संस्मरणों की पहली किताब है। इसका पहला संस्करण सन् 1964 ई० में भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इन संस्मरणों में निर्मल वर्मा ने खुद की आँख से दुनिया को और दुनिया की आँखों से खुद को देखने-परखने-खोजने का प्रयास किया है। निर्मल वर्मा की यात्राएं जितनी बाहर की हैं,उतनी ही भीतर की भी। 'भूमिका' में निर्मल जी ने लिखा है--- "महज सांस ले पाना---जीवित रहकर धरती के चेहरे को पहचान पाना---यह भी अपने में एक सुख है---इसे मैंने इन यात्राओं में सीखा है।"(1) 'वे दिन' उपन्यास के पोलिश यहूदी के शब्दों में कहें तो "सांस ले पाना,महज हवा में सांस ले सकना---इससे बड़ा सुख कोई और नहीं है।"(2)

निर्मल वर्मा दुनिया के शहरों में सैर करते हुए जब शहरों की दुनिया पर निगाह डालते हैं तो सहज ही कोई लेखक या उसकी कोई कृति या उसकी कुछ पंक्तियां उनकी आँखों में तैरने लगती हैं। वे आइसलैंड जा रहें हैं, किन्तु बराबर प्राग के बारे में सोच रहे हैं और उन्हें ताल्सतॉय का कथन याद आता है---'वार ऐण्ड पीस' की कुछ पंक्तियाँ---"जब हम किसी सुदूर यात्रा पर जाते हैं---आधी यात्रा पर पीछे छूटे हुए शहर की स्मृतियां मंडराती हैं, केवल आधा फासला पार करने के बाद ही हम उस स्थान के बारे में सोच पाते हैं जहां हम जा रहें हैं।"(3) निर्मल वर्मा के लिए 'बर्लिन आने का सबसे बड़ा आकर्षण' बर्तोल्त ब्रेख्त और उनके नाटक हैं। उनकी 'एक पुरानी दबी साध थी बर्लिन-एन्सेम्बल में ब्रेख्त का नाटक देखने की'। बर्लिन छोड़कर जाते हुए निर्मल जी को क्रिस्टोफर ईथरहुड के उपन्यास 'गुडबाइ टू बर्लिन' की याद आती है। यह युद्ध से पहले की रचना है जबकि युद्ध के बाद 'बर्लिन बहुत-कुछ बदल गया है'। कोपनहेगेन के रेस्तरां, नाईट-क्लब, रूलेट निर्मल जी की स्मृति में दॉस्तॉयवस्की के 'हीरो' को उभारते हैं। कोपनहेगेन उसी तरह किर्केगाद से जुड़ा है, जिस तरह प्रॉग काफ्का

से। निर्मल वर्मा लिखते हैं कि कोपनहेगेन को "चिपचिपाते आत्मसंतोष और सतहीपन की दलदल से बाहर निकालने की कोशिश की थी एक अन्य डेनिस ने, जिसे कोपनहेगन के निवासी आख़िर तक सिरफिरा समझते रहे। नाम था उनका किर्केगाद। कल्पना नहीं की जा सकती कि कोपनहेगन के अलावा किर्केगाद किसी और शहर में हो सकते थे, उसी तरह जैसे प्रॉग के बिना काफ्का की कल्पना करना कुछ अजीब-सा लगता है।"(4) लेकिन कोपनहेगन के संग ऐण्डर्सन का नाम जोड़ने में निर्मल वर्मा को हमेशा दिक्कत महसूस होती रही है, जिन्होंने अपनी विश्वविख्यात परीकथाएं कोपनहेगन में ही लिखी थीं। कोपनहेगन की कला-गैलरियों में घूमते हुए निर्मल वर्मा को कहीं पढ़ी या सुनी बात याद आई कि "एक बार दिलाक्रॉय ने जार्ज सौंद और शोपां का चित्र बनाया था। एक दिन जब जार्ज सौंद दिलाक्रॉय से मिलने गयीं, तो उनके स्टूडियो में अचानक उनकी नज़र इस चित्र पर पड़ गयी। न जाने क्यों शोपां के संग अपने चित्र को देखकर उन्हें बुरी तरह झुँझलाहट हुई और गुस्से में उन्होंने चित्र को दो हिस्सो में फाड़ दिया। एक में उनका अपना चित्र था, दूसरे में शोपां का। कहते हैं इस चित्र का एक भाग ड्रेस्डन की आर्ट गैलरी में है और दूसरा कोपनहेगन में।"(5) ऐडिनबोरो शहर के प्रिन्सेज स्ट्रीट पर चलते हुए 'पहाड़ी लोगों-से सहज और खुशमिज़ाज' आम स्कॉटिश लोगों को सड़क के बीचोबीच ठठाकर हँसते देख निर्मल वर्मा को अचानक राबर्ट बर्न्स की याद हो आई।' प्रिन्सेज स्ट्रीट के सामने ही एक छोटे-से बाग में बर्न्स का स्मारक है। उनकी मूर्ति के सामने निर्मल जी को मुद्दत पहले पढ़े उनके गीत, उनकी कविताएं स्मरण हो आईं। एजिनबोरो की 'आर्ट गैलरी ' के बारे में सोचते हुए निर्मल वर्मा के आँखों के सामने तितियान के चित्र घूम जाते हैं। पहली बार आइफल-टावर के सामने फैली पेरिस की छतों को देखकर निर्मल वर्मा को 'अपने' पेरिस की याद आती है जिसे उन्होंने बाल्जक के उपन्यासों और रजिस्तां की कविताओं से चुराकर खास अपनी निजी अल्बम में चिपका लिया था। आइसलैण्ड में जाड़े के दिनों में भी ज्यादा बर्फ नहीं गिरने की सूचना निर्मल वर्मा को अंगरेजी कवि ऑडेन का वह सुझाव याद आया कि 'आइसलैण्ड का नाम ग्रीनलैण्ड और ग्रीनलैण्ड का नाम आइसलैण्ड कर देना चाहिए'। पेरिस में शाम को शांज़लीज़े के सम्भ्रान्त रेस्तरां में बैठे निर्मल वर्मा का मन प्रथम युद्ध से पहले के पेरिस की स्मृतियों में भटकता रहा और अब विलुप्त हो चुके 'रोदुण्डा' नामक उस रेस्तरां की याद आई, जहाँ इल्या इहरनबुर्ग पहले-पहल मोदिल्यानी, ओपल्योनोर और पिकासो से मिले थे। पेरिस में ही निर्मल जी को अलक्सेय तालस्तॉय की वह बात याद हो आती है, जो अपनी मृत्यु के चंद महीने पहले तालस्तॉय ने इहरनबुर्ग से कही थी--- "मेरी आखरी इच्छा यही है कि मैं पेरिस चला जाऊं। सेन के किनारे एक मकान किराए पर ले लूं-- अपना अन्तिम उपन्यास मैं वहीं लिखना चाहता हूँ।"(6) निर्मल वर्मा के अनुसार--- "क्या यह कभी संभव है कि हम ओखलों में घूमते रहें और अचानक गली के नुक्कड़ पर इब्सन के किसी पात्र से भेंट न हो जाए !(7)

युद्ध के संदर्भ भी इस यात्रा-संस्मरण में जगह-जगह आए हैं। सन् 1961 की गर्मियों में मध्य यूरोप में जर्मनी के बीच से गुजरते हुए निर्मल वर्मा को लगा कि युद्ध का "जो समय सबके लिए, यहां के निवासियों के लिए, बीत गया है, वह मेरे लिए अभी तक जीवित है, प्रतीक्षारत है, और जब तक मैं उसे अन्य प्राणियों की तरह भोग नहीं लूगां, वह मुझसे छुटेगा नहीं।" (8) वे किसी जर्मन को देखते हैं तो उनके 'भीतर' एक फिज़ूल, बेमानी-सी बेचैनी होने लगती है'। 'यह बेचैनी एक हद तक उस बेचैनी से मिलती हैं जो उन्हें बहुत पहले मान और काफ्का की कथाओं को पढ़ने से होती थी'। इसी क्रम में निर्मल वर्मा को बर्तोल्त ब्रेख्त याद आते हैं, जो 'नात्सी सत्ता स्थापित हो जाने के बाद जर्मनी से बाहर चले गये'। ब्रेख्त के नाटक 'टेटर एण्ड मिज़री ऑव थर्ड रायख़' में 'हिटलर-जर्मनी का भयंकर वातावरण चित्रित हुआ है'। बर्लिन में 'कुछ मकान हैं, जहां लड़ाई से पहले यहूदी परिवार रहते थे। अब वे खाली और सूने पड़े हैं। कुछ फासले पर जली हुई ईंटें और टूटी हुई दीवारों का मलवा दिखाई दे जाता है... ... लड़ाई को खत्म हुए मुद्दत बीती, किंतु उसके मिटे-बुझे घाव जहां-तहां उभर आते हैं'। बर्लिन में चार दिन ठहरने के दौरान निर्मल वर्मा को महसूस हुआ कि "शीत युद्ध की इतनी नंगी, बेलौस तस्वीर शायद यूरोप के किसी शहर में दिखायी नहीं देती। हजारों ऐसे लोग हैं, जिनकें घर पूर्वी बर्लिन में है,और जो हर रोज़ काम करने पश्चिमी बर्लिन जाते हैं। अनेक ऐसे परिवार हैं जो इस विभाजित शहर का आइना हैं---आधा परिवार पूर्वी भाग में, आधा पश्चिमी भाग में।"(9) पूर्वी बर्लिन के चौराहों पर, स्टेशन की दीवारों पर अक्सर बड़ी-बड़ी सुर्खियों में चेतावनी के ये शब्द निर्मल वर्मा की आँखों को रोक लेते हैं--- फ़ासिज्म, नेवर अगेन! शीत युद्ध यूरोप की दैनिक चर्चा में किस तरह शामिल हो गया है, इसका अनुभव निर्मल वर्मा को लन्दन में हुआ जब वे टॉमस कुक कम्पनी से प्राग का टिकट लेने गए। टिकट मांगने पर एक बहुत ही शालीन और भद्र अंगरेज बाबू ने निर्मल जी की ओर देखते हुए कहा--- "प्राग ?... ... बट डोण्ट यू नो, इट इज बिहाईण्ड ऑयरन कर्टेन ?"(10) चेकोस्लोवाकिया लगभग सात वर्षों तक जर्मनी के अधीन रहा। यान ओत्चेनाशेक के सुप्रसिद्ध उपन्यास 'रोम्यो, जूलियट और अंधेरा' के 'वातावरण पर युद्ध और फ़ासिज्म की छाया एक प्रेत की तरह मंडराती दिखाई देती है।' प्राग में एक 'बुद्धिजीवी' भारतीय सज्जन ने निर्मल वर्मा से काफी विस्मय प्रकट करते हुए कहा था कि--- "यद्दपि युद्ध को समाप्त हुए 'इतना लम्बा अरसा गुजर गया', किन्तु चेक लेखक अभी तक इसके पीछे पड़े हैं। कोई उपन्यास हो या फिल्म, युद्ध की चर्चा अवश्य आती है; 'क्या इसके बाहर कोई और विषय नहीं रह गया है' ?"(11) इन भारतीय सज्जन की बात के प्रत्युत्तर में निर्मल वर्मा लिखते हैं--- "फ़ासिज्म, युद्ध, यातनागृह... ... जब तक हमारे लिए (हम भारतीयों के लिए) ये शब्द महज 'शब्द' ही रहेंगे, हम शायद तब कभी युद्धोत्तर यूरोप की मानसिक स्थिति को समझने में समर्थ नहीं हो सकते और उस सीमा तक इन देशों का युद्धोत्तर साहित्य भी हमारे लिए अजनबी बना रहेगा।"(12) युद्ध के बाद भी साहित्य या फिल्म

में युद्ध की चर्चा के मुद्दे पर निर्मल वर्मा का मानना है कि "वास्तव में किसी देश की सामाजिक व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन तत्काल ही उसकी संस्कृति और साहित्य की गति को नहीं बदल सकता।" (13) जर्मनी द्वारा लिदीत्से नामक एक छोटे से गाँव को नेस्तोनाबूंद किए जाने की घटना को जानने-सुनने के बाद अपने संस्मरण में निर्मल वर्मा ने लिखा— "यूरोप के शहरों में घूमते हुए मुझे अक्सर यह महसूस हुआ है कि इन लोगों के बीच मैं महज एक 'आउटसाइडर' हूं--- एक बाहर का आदमी। यूरोप के लिए फ़ासिज्म का जो अर्थ रहा है, क्या मैं उसे कभी सही-सही समझ सकूंगा, महसूस कर पाऊंगा ?"(14)

यूरोप युद्ध से इस कदर आक्रांत रहा कि यह जानकर प्रीतिकर आश्चर्य होता है कि 'आइसलैण्ड यूरोप में अकेला देश है, जिसकी अपनी कोई सेना नहीं।' निर्मल वर्मा के विचार से "अहिंसा का मूल्य केवल हिंसा की तुलना में महत्वपूर्ण दीखता है ; जहाँ हिंसा का प्रयोग न हुआ हो---जैसा आइसलैण्ड के स्वाधीनता संघर्ष में---वहाँ अहिंसा एक नैतिक मान्यता न होकर सहज विश्वास के संग जुड़ी है। यही कारण है की यद्यपि आइसलैण्ड का स्वाधीनता-संघर्ष इतिहास में सबसे लम्बा 'सत्याग्रह' रहा है, शायद ही कोई आइसलैण्डी इस संदर्भ में डींग मारता हुआ दिखाई देगा।"(15) निर्मल वर्मा आश्चर्यचकित हैं कि "न तॉल्स्तॉय ने न गांधी जी ने इस तथ्य की ओर कभी ध्यान दिया,हालांकि दोनों के जीवन काल में यह संघर्ष जारी था।" (16) इस अद्भुत अहिंसात्मक स्वाधीनता-संग्राम के बारे में निर्मल वर्मा ने लिखा है--- उन्नीसवीं सदी में आइसलैण्ड के अनेक विद्वान और लेखक (जिनमें अक्सर बूढ़े किसान और भिक्षु भी शामिल होते थे) डेन्मार्क जाते थे। अस्त्र-शस्त्रों के स्थान पर उनके हाथ में केवल कुछ काव्य-ग्रंथ और नीति विधान की पुस्तकें हुआ करती थीं। डेन्मार्क के राज-दरबार में बड़े धैर्य से तथ्यों और तर्कों के सहारे वे आइसलैण्ड की स्वतंत्रता के पक्ष में भाषण देते थे। कहते हैं, इन लम्बे भाषणों से छुटकारा पाने के लिए अंत में डेन्मार्क सम्राट ने आइसलैण्ड को स्वतंत्रता देने का निश्चय कर लिया था।"(17)

निर्मल वर्मा आइसलैण्डी स्त्रियों को 'सही मानी में स्वाधीन स्त्री' का दर्जा देते हैं। 'स्वाधीन---बराबरी के वोट या आर्थिक स्वतंत्रता के स्तम्भों के सहारे नहीं बल्कि सहज और आनायास रूप से'। बकौल निर्मल वर्मा इन स्त्रियों में "एक अजीब उच्छलता है और वे परंपरागत '*नैतिकता*' *से बिल्कुल अदूषित हैं---निपट ग्रंथिहीन और कुंठारहित।* " (18) निर्मल जी के अनुसार--- "पुरुष और स्त्री के बीच इतना सहज और ग्रंथिहीन संबंध शायद दूसरे देशों में 'अनैतिकता' की पराकाष्ठा माने जाएंगे, किन्तु आइसलैण्ड में वे बहते पानी की तरह नैसर्गिक है---न कोई कृत्रिम अवरोध है और न मैलापन। नैतिकता जीवन पर थोपी नहीं गई, वह जीवन-क्रिया का अदृश्य अंग है। हर व्यक्ति---स्त्री और पुरुष---स्वयं अपने लिए जवाबदेह

है, और अंततोगत्वा यही जवाबदेही नैतिकता को अर्थ देती है।"(19) यहाँ उल्लेखनीय तथ्य है कि 'जब एक आइसलैण्डी स्त्री माँ बनती है, तो उसके मित्र और पड़ोसी उसे बधाई देने आते हैं---वह विवाहित है या नहीं---यह प्रश्न उन्हें कभी परेशान नहीं करता। अहम् चीज़ यह है कि पड़ोस में अमुक स्त्री माँ बनी है, अन्य प्रश्न निरे अप्रासंगिक हैं '। आइसलैण्ड में 'अवैध' बच्चों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक है, फिर भी निर्मल वर्मा आश्चर्यचकित हैं कि 'अवैध' की कुण्ठा या अपराध भावना न ऐसे बच्चों में, न उनकी माताओं में दिखायी देती है।

आइसलैण्ड की आधुनिकता की चर्चा निर्मल वर्मा यह लिखते हुए करते हैं कि "खुली हवा में, आकाश तले, नियम-कानूनों पर बहस होती थी, हर समस्या को न्याय की कसौटी पर जांचा-परखा जाता था। 'न्याय' में उनका विश्वास यूनानियों की तरह अटूट था।" (20) लेकिन निर्मल वर्मा के शब्दों में--- "प्राचीन आइसलैण्डियों को यूनानियों की तरह देवी-देवताओं की कभी जरुरत महसूस नहीं हुई, अपने को वे नियति के सम्मुख बिल्कुल अकेला पाते थे। यह आश्चर्यजनक चीज है कि मध्यकालीन यूरोप के 'अंधेरे युग 'में, जब जीवन और कला का कोई अंश धर्म से अछूता नहीं था, आइसलैण्ड का महान् साहित्य अपने में शुद्ध रुप से 'सेक्युलर' बना रहा।"(21) 'आइसलैण्ड के पौराणिक सागा-ग्रंथों में दैवी अथवा अतिमानवीय शक्तियों का कहीं उल्लेख नहीं मिलता'। निर्मल जी के अनुसार--- "यह कहना शायद बहुत गलत न होगा कि सागा-ग्रंथों के अज्ञात लेखक शायद दुनिया के पहले अस्तित्ववादी थे।"(22)

'मनुष्य के अकेलेपन' की समस्या पश्चिम के आधुनिक लेखकों को काफी पीड़ित करती रही है। लेकिन आइसलैण्ड के साहित्य के नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखक लैक्सनेस को इस समस्या ने कभी पीड़ित नहीं किया। सार्त्र के कथन कि 'आज के युग में कोई भी प्रतिगामी लेखक महान् साहित्य की रचना नहीं कर सकता', का विरोध करते हुए लैक्सनेस कहते हैं कि 'अपने प्रतिगामी विचारों के रहते भी इलियट और काम्यू ने महान् रचनाओं की सृष्टि की है।'(23) लैक्सनेस मानते हैं कि "पहले या दूसरे विश्व-युद्ध से पूर्व कई देशों में युद्ध के प्रति काफी उत्साह पाया जाता था।"(24) लेकिन "आज राजनीतिज्ञ भी अणु-शस्त्रों की संहार शक्ति से डरते हैं।"(25) लैक्सनेस के "विचार में आज भी प्रत्येक छोटे-बड़े देशो में राजनीतिज्ञों का ही बोलबाला है।"(26) 'आज के प्रचार-युग में लेखकों की आवाज कोई विशेष महत्व या प्रभाव रखती हैं', इसमें लैक्सनेस को संदेह है। लैक्सनेस को यह भी संदेह है कि लेखक 'वस्तुस्थिति में कोई बुनियादी परिवर्तन कर सकता है'। वे कहते हैं--- "दूसरे युद्ध के आरंभ होने से पूर्व जर्मनी में अनेक ऐसे साहित्यकार थे, जिन्होंने फासिज़्म का तीव्र विरोध किया था, किन्तु क्या उन्हें राजनीतिज्ञों की चालों के आगे कुछ भी सफलता मिल सकी ?"(27) भारतीय नेताओं और भारतीय जनता के बीच लैक्सनेस को 'गहरा अन्तर' दिखाई पड़ा। दिलचस्प यह कि

आधुनिक भारतीय लेखक लैक्सनेस को 'आधुनिक' नहीं जान पड़े। जबकि निर्मल वर्मा की नजर में "आधुनिक आइसलैण्डी चित्रकार इतने 'आधुनिक' हैं कि उन्हें खोजने के लिए आइसलैण्ड जाना आवश्यक नहीं।"(28)

आधुनिक आइसलैण्डी मूर्तिकार आस्मुन्दुर स्वेन सॉन के लिए आधुनिकता 'वैसे ही सहज और अनिवार्य थी, जैसे हवा में सांस लेना'। लोग उन्हें अत्याधुनिक समझते हैं, जबकि वे 'आधुनिकता' का अर्थ नहीं समझ पाए। वे अपने को सिर्फ 'तकनीकी युग का कलाकार मानते हैं'। लोग उनकी अमूर्त मूर्तियों को देखकर नाराज होते हैं किन्तु उनसे टेलीफोन करने और टैक्सी मँगवाने का आग्रह करते हैं। स्वेन सॉन को लगता है कि टेलीफोन और मूर्तियाँ दोनों ही 'तकनीकी-युग की उपज है'। इस कलाकार से मिलने के बाद निर्मल वर्मा को "महसूस हुआ कि आधुनिकता --यदि वह सिर्फ एक खाली शब्द नहीं, आस-पास की हर चीज को ऐसे अंदाज से देखने और परखने की क्रिया है, जो हमसे पहले किसी भी पीढ़ी के पास नहीं था --- सिर्फ 'देखना-परखना' ही काफी नहीं,उसके लिए एक बिल्कुल नए सिरे से जीना जरूरी है--एक ऐसे स्तर पर, जहाँ पर निगाह एक खोज है और हर खोज अपने में एक छोटी-सी 'साहसिकता'।" (29) इसी क्रम में निर्मल वर्मा को "पिकासो का एक वाक्य याद आता है -- 'जो कलाकार आईने में देखे बिना अपनी स्वयं की तस्वीर नहीं बना सकता, वह भला आईने में देखकर ही अपनी स्वयं की तस्वीर बना सकेगा,इसकी क्या गारण्टी है '?"(30) इसके तुरंत बाद निर्मल वर्मा टिप्पणी करते हैं कि 'आधुनिकता' पर यही चीज बहुत ठीक उतरती है --- जो व्यक्ति कला के आईने से बाहर आधुनिकता को नहीं पहचान पाता, वह उसके भीतर उसे परख सकेगा, मुझे इसमें सन्देह है।"(31)

निर्मल वर्मा के अनुसार "समकालीन शब्द आज काफी विकृत हो चुका है। प्रायः उन सब लेखकों के लिए यह प्रयुक्त होता है जो आज जीवित हैं और लिख रहें हैं -- अक्सर उनके लिए भी जो 'जीवित' नहीं हैं और लिख रहे हैं।"(32) 'टेरर एण्ड मिजरी ऑव थर्ड रायख' देखते हुए निर्मल वर्मा पहली बार 'समकालीन' शब्द से परिचित हो पाए। उनकी नजर में इस शब्द का "कोई अर्थ है तो सिर्फ एक प्रयोग, जब आदमी के अस्तित्व की हर तह एक नए स्तर पर अप्रत्याशित अर्थ ग्रहण कर लेती है।"(33) निर्मल वर्मा के अनुसार "समकालीन होना,दूसरे शब्दों में, अपने निजी घेरे के बाहर उन सब आवाजों का साक्षी होना, जो बीसवीं सदी के अंधेरे से टकराती हुई हमारे पास आती है।"(34)

2) हर बारिश मे :

'हर बारिश में' निर्मल वर्मा के यात्रा-चिंतन की दूसरी किताब है। इसका पहला संस्करण सन् 1970 ई० में राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली से निकला। 'हर बारिश में' के लेखों को 'न रूढ़ अर्थों में निबंध कहा जा सकता है, न यात्रा संस्मरण' बल्कि ये 'मुक्त भाव से दोनों की सीमाओं को छूते' हैं। 'दस वर्ष बाद' में निर्मल वर्मा ने लिखा है – " 'हर बारिश में' के निबंध सार्वजनिक शंकाओं के अंधेरे और निपट वैयक्तिक अलगाव में लिखे गये थे। इस दृष्टि से वह मेरी पहली यात्रा पुस्तक 'चीड़ों पर चांदनी' से बहुत भिन्न है, जिसमें मैंने भोले उल्लास में पहली बार यूरोप की संस्कृति को चखा था; वहां भोगने का सुख था, शंका करने की गुंजाइश नहीं थी। दूसरे छोर पर इस पुस्तक में 'शब्द और स्मृति' के निबंधों की वह पहुंच नहीं है, जिस बिन्दु पर गुफ़ा के अंधेरे से कुछ दूर पर रोशनी की किरण दिखायी देती है, फिर चाहे यह रोशनी बीच के अंधेरे से कहीं ज्यादा क्रूर और पथरीली ही क्यों न हो। 'हर बारिश में' एक बीच की कड़ी है – जहां न भोग का सुख है, न समाधान का निश्चय – केवल एक अनुभव की कड़ी, जिस पर एक खास ऐतिहासिक लम्हे से जुड़े मेरे स्मृति-चित्र टंगे हैं।"(35) 'अपने दूसरे यूरोप-प्रवास के दौरान निर्मल वर्मा को संयोगवश कुछ ऐसे शहरों में रहना पड़ा, जहां अपनी आंखों से उन्हें आधुनिकता के एक उपकरण इतिहास को – किताबों में नहीं – गली-सड़कों पर लोगों के चेहरों पर देखना पड़ा'। यह इतिहास से निर्मल वर्मा की 'पहली, नंगी, भयावह मुठभेड़ थी।' उन्हें पहली बार पता चला कि "अखबार कि सुर्खियों और सेमीनारों की वातानुकूलित बहसों से बाहर इतिहास का चेहरा कितना यातनामय, उदास, भयानक, वीभत्स और नेत्रहीन हो सकता है। वहां सत्य और असत्य के लिए कोई गुंजाइश नहीं – टैंकों के यथार्थ और लोगों के आसुओं के बीच जो रेखा खींची जाती है, उसे केवल बरसों बाद पहचाना जाता है।" (36) 'हर बारिश में' के निबंध इतिहास के चेहरे को 'पहचानने की इस पीड़ित, दुर्गम यात्रा' के दौरान लिखे गये। इनमें 'निबंधों का सोच-चिंतन अवश्य था किंतु कोई उपलब्धि का भाव न था', दूसरी तरफ ठीक यूरोप के बीच में लिखे जाने के कारण इनमें 'एक 'यात्रा' की गंध अवश्य आती थी'। संकटग्रस्त संस्कृति से अपने को मुक्त करने की जो धड़कन निर्मल वर्मा को बीसवीं शती के यूरोप में सुनाई पड़ी,

कुछ वर्षों बाद उसकी अनुगूंज 'संपूर्ण क्रांति' के देशव्यापी आंदोलन में भारत में भी दिखायी पड़ी । निर्मल वर्मा के मतानुसार "ध्यान से देखें तो अरसठ के आसपास जगनेवाली यूरोपीय आकांक्षा और भारतीय-जन के स्वप्नों में कोई मूलभूत अंतर न था । दोनों ही एक विराट सांस्कृतिक संकट की छाया में उन्मेषित हुए थे ।" (37) 'हर बारिश में' के निबंध 'बहुत धुंधले ढंग से', यूरोपीय और भारतीय सांस्कृतिक संकट के प्रश्नों से टकराते हैं, क्योंकि उस समय निर्मल वर्मा 'शंकाओं और दुविधाओं की एक ऐसी जमीन पर चल रहे थे, जहां अपने विश्वासों की कोई दिशा दिखाई नहीं देती थी ।' कहना न होगा कि 'युद्ध' के मोर्चे पर घायल संस्कृतियों' को निर्मल वर्मा ने 'जैसा देखा, वैसा ही आंकने की कोशिश की ।'

'बंगाल कला-शैली की छद्म भारतीयता पर हल्के से व्यंग्य करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक बार कहा था', "सौभाग्यवश प्राचीनकाल में ऐसे कला-आलोचक मौजूद नहीं थे, जो बार-बार कलाकार को कुहनी मारकर यह उपदेश देते हों कि उन्हें अपनी प्रेरणा किस जगह से प्राप्त करनी चाहिए और किस जगह से नहीं । न ही हमारे कलाकारों को ठोंक-पीटकर इन शब्दों से आतंकित किया जाता था कि वे भारतीय हैं..... परिणामस्वरूप हर कलाकार को सहज रूप से कलाकार को भारतीय होने की स्वच्छन्दता थी..... क्योंकि कला एकाकी पथिक है, अनेक प्रभावों को ग्रहण करती हुई, किंतु किसी भी वर्गीकरण अथवा कठघरेपन से सर्वथा मुक्त ।"(38) कला को 'किसी भी वर्गीकरण अथवा कठघरेपन से सर्वथा मुक्त' रखना एक उत्तर-आधुनिक आकांक्षा है, जिसे रवि बाबू व्यक्त करते हैं । निर्मल वर्मा की दृष्टि में 'सहज रूप से भारतीय हो पाना' भी 'एक महत्वपूर्ण सत्य है । निर्मल जी के अनुसार "इस सत्य की उपलब्धि वही कलाकार कर सके हैं जिन्होंने अपने सृजनात्मक 'एडवेंचर' में 'भारतीयता का अतिक्रमण करने की भी जोखिम उठाई है ।"(39) अर्थात् सहज रूप से भारतीय होने के लिए खुद को भारतीयता के बोझ से मुक्त करना होगा । यह सही मायने में आधुनिक व्यक्ति ही कर सकता है । इसीलिए "आधुनिकता यदि वह महज दिखावा नहीं है – भारतीयता या अभारतीयता में निहित नहीं है, वह सब भ्रांतियों से मुक्त होकर सिर्फ अपने सत्य की खोज का दूसरा रूप है । यदि 'खोज' की इस यात्रा में कोई व्यक्ति तुलसीदास की अपेक्षा तॉलस्तॉय को अपनी आत्मा और संवेदना के अधिक निकट पाता है तो वह महज एक को इसलिए स्वीकार नहीं कर सकेगा कि वह भारतीय है और दूसरे को महज विदेशी कहकर त्याज्य नहीं

मानेगा । यहां परंपरा का प्रश्न ही अप्रासंगिक हो जाता है । एक बार इसे पहचान लेने पर हम अपने को उस 'शव' से मुक्त कर सकेंगे, जिसे आज तक हम 'जातीयता' के नाम पर अपनी पीठ पर ढोते आ रहे हैं । आज के भारतीय कलाकार की सबसे बड़ी विडम्बना ही यह रही है कि वह आज तक अपने को 'भारतीयता' की भ्रान्ति से छुटकारा नहीं दिला सका है ।" (40) परिणाम यह हुआ कि "न केवल सामाजिक व्यवहार में, बल्कि संस्कृति में भी हम 'वर्ण व्यवस्था' का सर्मथन करने लगे हैं (जो पहले कभी नहीं होता था) वरना विदेशी या पश्चिमी आधुनिकता से हम इतनी जल्दी संत्रस्त न हो जाते ।"(41) निर्मल वर्मा के अनुसार – "यह आकस्मिक नहीं है कि उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर – जब बंगाल में 'नवजागरण' का आंदोलन शुरू हुआ – आज के फिल्म-युग तक, वही भारतीय अपने क्षेत्रों में कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धि कर सके हैं, जिन्होंने सब दकियानूसी विरोधों को सहकर 'भारतीयता' का अतिक्रमण करने का साहस दिखाया है । वे चाहे राजा राममोहन राय के सामाजिक सुधार हो, अथवा रवीन्द्रनाथ के भाषा-संबंधी प्रयोग..... आश्चर्य नहीं, उन सब पर एक ही आरोप लगाया जाता था कि वे भारतीय संस्कृति पर 'विदेशीपन' थोप रहे हैं ।"(42) कहना न होगा कि 'विदेशीपन' का आरोप स्वयं निर्मल वर्मा की कहानियों और उनकी भाषा पर भी लगाया जाता रहा ।

निर्मल वर्मा मानते हैं कि 'भारतीयों की इस आत्मतुष्टि और आत्मविडम्बना' के पीछे 'गहरे ऐतिहासिक कारण हैं' । उनके अनुसार – "जिस स्वतंत्र व्यक्ति का जन्म यूरोप में 'रेनासां' के दौरान हुआ था, उसकी परिकल्पना भारत के अर्द्ध-सामन्तवादी समाज में असम्भव लगती है। हम अपनी 'आधुनिकता के बावजूद आज भी एक ऐसे समूह के अंग हैं, जिसकी जीवन्त शक्ति शताब्दियों पहले नष्ट हो चुकी है ।"(43) यानी भारत में आधुनिकता एक अधूरी प्रक्रिया है । निर्मल वर्मा को 'काफी विस्मय होता है जब हिन्दी के कुछ प्रगतिशील लेखक पश्चिम की ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की चर्चा करते नहीं थकते', जबकि ऐसी 'अमानुषिकता और ह्रासोन्मुखता' से साक्षात्कार भारत में भी होता है । निर्मल वर्मा मानते हैं कि "स्वयं अपनी 'जीवन्त आत्मा को खोजने के लिए भी आज हमें पश्चिम की वैज्ञानिक संस्कृति से गुजरना होगा ।"(44) वे उदाहरण देते हैं "यदि आप 'पाथेर पांचाली' को सही अर्थों में पहली भारतीय फिल्म मानते हैं (जो वह है) तो आपको इस तथ्य को भी स्वीकार करना

होगा कि उसे बनाने से पूर्व सत्यजित राय ने बरसों पश्चिम के निर्देशकों की उपलब्धियों का – आइजेन्स्टन से लेकर फैलिनी तक पूरी एक विकसित फिल्म परम्परा का गहरा अध्ययन किया था, उससे अपने को सम्पृक्त करने का साहस बटोरा था । बिना आइजेन्स्टाइन के सत्यजित राय की कल्पना करना कुछ उतना ही असम्भव लगता है, जितना गौगां के अस्तित्व के बिना अमृता शेरगिल की कल्पना करना ।" (45) एक और उदाहरण निर्मल वर्मा ने दिया है – " इंग्लैंड के निर्देशक पीटर ब्रुक जब प्राग आए थे, तो क्रेयचा द्वारा निर्देशित 'रोम्यो और जूलियट' देखकर उन्हें सुखद आश्चर्य हुआ था । शेक्सपियर को इतने मुक्त और अकुंठित दृष्टिकोण से व्याख्या (इंटरप्रिटेशन) करना असीम साहस और गहरी कलात्मक संवेदना का सूचक है । यह विकट कार्य केवल ईंग्लैंड के बाहर क्रेशचा जैसे निर्देशक कर सकते हैं, जो शेक्सपियर की 'परंपरा' से अत्यधिक आक्रांत और आतंकित नही हैं ।"(46) औटोमार क्रेयचा प्राग के रंगमंच की महत्वपूर्ण प्रतिभा हैं ।

यदि 'अंतर्विरोध और संकट' पश्चिमी सभ्यता में हैं तो भारतीय सभ्यता में भी हैं। यदि इससे मुक्ति पाने के लिए पश्चिमी लेखक-कलाकार भारतीय दर्शन का सहारा लेते हैं । तो झूठे गर्व से उफनना नहीं चाहिए । निर्मल वर्मा को "लगता है कि जिस दिन हम अकुण्ठित भाव से, बिना किसी जातीय दम्भ का सहारा लिये, अपनी सदी के गवाह बन सकेंगे, उसकी समस्त पीड़ाओं और अन्तर्विरोधों और सम्भावनाओं समेत, उस दिन हम सहज रूप से आधुनिक बन सकेंगे, उसी अर्थ में, जिसे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'सहज रूप से भारतीय बनना' कहा है । चेतना के इस बिन्दु पर भारतीयता और आधुनिकता में शायद कोई विरोध नहीं रह सकेगा । तब आधुनिकता उतनी ही अनायास और अनिवार्य हो सकेगी, जितना हवा में सांस लेना.....।" (47)

यूरोप के सांस्कृतिक संकट की चर्चा करते हुए निर्मल वर्मा कहते हैं चूंकि उपभोक्ता संस्कृति "अपने अस्तित्व के लिए व्यापक प्रचार - साधनों पर निर्भर करती है, उसे हम उतनी ही आसानी से खरीद सकते हैं, जितना दूकान से साबुन की टिकिया को । हम इस झंझट मे नहीं पड़ते कि किसने उसका उत्पादन किया है – शर्त सिर्फ इतनी है कि हम उसे खरीद सकने में समर्थ हों और वह हमें सन्तुष्ट करने में ।"(48) सृजनात्मक संस्कृति पर उपभोक्ता

संस्कृति के खतरे को रेखांकित करते हुए निर्मल वर्मा लिखते हैं – "उपभोक्ताओं की बाजारू संस्कृति ने आज धीरे-धीरे उन सब साधनों को अपना लिया है, जो एक समय में 'शुद्ध' अथवा सृजनात्मक संस्कृति के साधन थे – फिल्म, पुस्तकें, टेलीविजन, थियेटर और संगीत – और चूंकि इन 'दो संस्कृतियों' के अभिव्यक्ति-माध्यम एक ही हैं (एक घटिया जासूसी उपन्यास 'भाषा' पर उतना ही निर्भर हैं जितना एक उत्कृष्ट कलात्मक उपन्यास) दोनों की सीमाओं पर अकसर 'स्मगलिंग' का खतरा बना रहता है, और उन्हें एक-दूसरे से अलग करके पहचानना भी बहुत आसान नही है ।" (49) निर्मल वर्मा के लेखे "एक बात बहुत स्पष्ट है – यूरोप के हर देश का सांस्कृतिक वातावरण इन दो संस्कृतियों के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व पर नहीं, बल्कि एक खिंचे हुए तनाव पर आधारित है । यों तो इस तनाव का असर संस्कृति के हर पहलू पर हुआ है, किंतु साहित्य पर शायद सबसे अधिक, क्योंकि अन्य माध्यमों की अपेक्षा भाषा सबसे अधिक सेन्सिटिव यन्त्र है और संस्कृति के बाजारू लेन-देन में उसके भ्रष्ट हो जाने की आशंका भी सबसे अधिक वास्तविक है ।" (50) घटिया फिल्म या घटिया साहित्य बहुत हद तक अच्छी फिल्म या अच्छे साहित्य पर हावी हो जाते हैं । यह संकट 'यूरोप के अनेक औद्योगिक देशों में – समाजवादी व्यवस्था के बावजूद – दिखायी देता है । 'समाजवादी व्यवस्था जिस अनुपात में एक औद्योगिक लोकतांत्रिक समाज में बदलती जाएगी, उस अनुपात में आधुनिक दुनिया के 'टेक्नोलॉजिकल' दबाव और तनाव का सामना भी उसे करना पड़ेगा' । आधुनिक औद्योगिक ढांचे में (चाहे वह समाजवादी ढांचा क्यों न हो 'एक व्यक्ति अपने को बहुत अकेला, अवश और अजनबी (एलिएनेटेड) पा सकता है ।' 'बाजारू संस्कृति' के दौर में विभिन्न देशों के युवकों के स्वप्न और आदर्श एक जैसे हो गए हैं ।

प्राग के बदलते सांस्कृतिक वातावरण में रहकर निर्मल वर्मा को लगा कि "जिस सीमा तक एक समाजवादी देश अपने को स्तालिनवादी संकीर्णताओं से मुक्त करता जाएगा, उस सीमा तक वहां उथली या सतही संस्कृति की समस्या अधिक वास्तविक और विकट रूप में उपस्थित होगी ।" (51) स्तालिनवादी युग में शेक्सपियर, बाल्जाक, तॉलस्तॉय इत्यादि क्लासिक लेखकों की पुस्तकें लाखों की प्रतियों में छापी जाती रही हैं, जो अपने में चमत्कारपूर्ण तो था ही, इसमें तनिक डर भी छिपा था । दरअसल कोशिश यह थी कि 'जनता

को खोटी और ह्रासात्मक संस्कृति के कुप्रभावों से मुक्त रखा जाए ।' निर्मल वर्मा के शब्दों में "यह समस्या का सामना करना नहीं था, उससे कतराना था ।"(52) 'शेक्सपियर की लोकप्रियता' उस समय तक नहीं आंकी जा सकती, जब तक लोगों को जेम्स बॉण्ड (007) के उपन्यासों को पढ़ने की भी आजादी न हो । क्लासिकल संगीत के कंसर्ट में कितने लोग बाख और मात्सार्ट सुनने आए हैं, अपनें में यह बात उसी समय महत्वपूर्ण है, जब उनके लिए 'विग-बीट का संगीत सुनने के दरवाजे भी खुले हों, बाजारू संस्कृति को दबाने का अर्थ है कि हमारा खुद सृजनात्मक संस्कृति की शक्ति पर विश्वास नहीं है । यदि चेकोस्लोवाकिया या पोलैण्ड का सांस्कृतिक वातावरण सोवियत संघ या पूर्वी जर्मनी की तुलना में 'कहीं अधिक मुक्त, वर्जनाहीन और नार्मल था तो इसलिए कि उन देशों में 'स्तालिनवाद' की जड़ें बहुत गहरी न थीं । 'समाजवादी देश की संस्कृति जनसंस्कृति की मान्यताओं से उत्प्रेरित होती है, जिसमें मुनाफे और व्यावसायिकता का वह दूषित खिंचाव नहीं होता, जो पश्चिमी देशों की बुर्जुआ-संस्कृति का अभिशाप है । ऐसे में एक समाजवादी देश में बाजारू संस्कृति का अस्तित्व विरोधाभास की तरह लगता है । व्यावसायिकता या संस्कृति से मुनाफा कमाने की प्रवृति अगर नष्ट भी हो जाए, तब भी 'उपभोक्ताओं की रुचि की अवहेलना नहीं की जा सकती । समाजवादी देशों की संस्कृति उपभोक्ताओं की रुचि के उतार-चढ़ाव पर उतनी ही निर्भर है, जितनी अन्य देशों की संस्कृतियां । समाजवादी देश में भी उस हद तक उपभोक्ता की रुचि का आदर अवश्य किया जाता है, ताकि फिल्म पर घाटा न उठाना पड़े, हर किताब दूकान में ही न पड़ी रहे, हर शाम थियेटर खाली दिखायी न दें । निर्मल वर्मा लिखते हैं – "जब तक ऐसी 'आदर्श' स्थिति उत्पन्न नहीं हो जाती, जहां मनोरंजन और संस्कृति के बीच कोई खई न हो, दूसरे शब्दों में जब उपभोक्ता की रुचि अपने में इतनी विकसित नहीं हो जाती कि उसे तुष्ट करने के लिए कला में किसी प्रकार की मिलावट और समझौता करने की आवश्यकता महसूस न की जाये – और यह सचमुच आदर्श स्थिति है – तब तक हर समाज-व्यवस्था में बाजारू संस्कृति की आशंका बनी रह सकती हैं । (53) प्राग में एक युवा फिल्म-निर्देशक से बातचीत के दौरान निर्मल वर्मा के पूछने पर कि यहां अच्छी फिल्मों के साथ-साथ हॉलीवुडियन – किस्म की काफी सस्ती फिल्में क्यों दिखायी जाती हैं, उसने कहा कि "प्रयोगवादी फिल्मों को बनाने में जो घाटा उठाना पड़ता है, उसे इन सस्ती

किन्तु 'लोकप्रिय' फिल्मों के मुनाफे से पूरा किया जाता है ।"(54) उत्तर-आधुनिकता का लोकप्रिय और लोक संस्कृति पर जोर है ।

यूरोप के विकसित औद्योगिक देशों में 'मजदूर वर्ग तेजी से उन मध्यवर्गीय स्वार्थों और आदर्शों को अपनाता जा रहा है, जिनके विरुद्ध एक जमाने में उसका विरोध सबसे अधिक मुखर और प्रेरणादायक था । इन औद्योगिक समाजों में मजदूरों को वे सब सुविधाएं प्राप्त हैं, 'जिनकी कल्पना एक भारतीय नहीं कर सकता क्योंकि "हमारे देश में मजदूर या किसान होने का मतलब ही गरीब होना है – दूसरे शब्दों में जहां मध्यवर्ग और मजदूर वर्ग के बीच केवल 'वर्गीय अन्तर' ही नहीं बल्कि शिक्षा, संस्कृति और रहन-सहन की सुविधाओं का भी ठोस भौतिक अन्तर है ।"(55) निर्मल वर्मा के अनुसार यूरोप में "भयानक बात यह नहीं कि आज यहां लगभग वे लोग जिन्हें हम मजदूर कहते हैं, अपना मकान, अपनी मोटर और टेलीविजन-सेट, अपना डॉक्टर और अपनी यूनिवर्सिटी की उच्च शिक्षा चुनने का सामर्थ्य रखते हैं । यह ठीक है और ऐसा होना भी चाहिए । अधिक चिन्तनीय चीज यह है कि इन सुविधाओं के साथ-साथ मजदूर वर्ग ने अवसरवादिता और आत्मकेन्द्रीयता, सस्ती भोंड़ी रुचि और सनकी मान्यताएं, बाजारू किस्म के भौतिक आदर्श और सतही आत्मसन्तोष – वे सब मान्यताएं ग्रहण कर ली हैं, जिन्हें हम एक समय में केवल मध्यवर्ग की बाबू-संस्कृति के साथ जोड़ते थे ।" (56) जिन अपेक्षाकृत पिछड़े यूरोपीय देशों में मजदूरों को ये सुविधाएं प्राप्त नहीं हैं, वहां भी उनका स्वप्न और आदर्श इन्हें किसी न किसी तरीके से हासिल करना है – चाहे उसके लिए उन्हें अपने वर्ग की समस्त गौरवपूर्ण परम्पराओं को ही क्यों न छोड़ना पड़े । निर्मल वर्मा के अनुसार " यह प्रकृति केवल इंग्लैंड के 'वेल्फ़ेयर स्टेट' या अमरीका और पश्चिमी जर्मनी की 'एफ्लुएंट सोसायटी' में ही प्रकट नहीं हो रही, बल्कि और यह चीज शायद कुछ विस्मयकारी सी जान पड़े – स्वयं समाजवादी देशों में भी व्याप्त है, जहां मजदूर वर्ग के हाथ में राजसत्ता है ।" (57)

निर्मल वर्मा को यूरोप की यात्राओं के दौरान 'जितना अजनबीपन दूसरे देशों में महसूस हुआ, उतना इंग्लैंड में नहीं । इसकी वजह यह रही कि "एक मध्यवर्गीय भारतीय बुद्धिजीवी के संस्कार अंग्रेजी संस्कृति या साहित्य के साथ जितने जुड़े हैं, उतने किसी अन्य

देश के साहित्य या संस्कृति के साथ नहीं ।"(58) इंग्लैंड के रोमांटिक कवियों ने रवीन्द्रनाथ को, छायावादी कवियों को प्रभावित किया ।

यूरोप की 'सांस्कृतिक चेतना' बहुत 'लोकल' है और इस 'स्थानीयता' में ही इसका रंग -रूप और सौंदर्य बसा है । लोर्का या रिल्के – एक-दूसरे से बहुत भिन्न होते हुए भी – ठेठ रूप से स्थानीय थे, स्पेन और जर्मनी की मिट्टी में रसे-बसे हुए । यहां भी उत्तर-आधुनिकता सक्रिय है ।

यूरोप के सांस्कृतिक वातावरण का एक प्रमुख तत्व, निर्मल वर्मा की दृष्टि में, "अतीत के प्रति अकुंठित और सहज लगाव है और यह लगाव समय के बोध से जुड़ा है, जिसे हम ऐतिहासिक चेतना कहते हैं ।"(59) निर्मल वर्मा के अनुसार यूरोप और भारत के बीच 'एक मूल अंतर' है ।" यूरोप की समूची सांस्कृतिक धारा एक निश्चित ऐतिहासिक चेतना पर आधारित है, जबकि भारतीय संस्कृति समय के बोध से सर्वथा वंचित रही है ।"(60) इसलिए यूरोप में घूमते हुए निर्मल वर्मा पर केवल स्थानों का ही प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि समय का 'आक्रमण' भी होता है । समय-बोध और ऐतिहासिक चेतना के अभाव में निर्मल वर्मा को पुराने लेखकों की भारतीयता उतनी ही अर्थहीन और थोथी जान पड़ती है, जितनी नयी पीढ़ी की आधुनिकता ।

3) धुंध से उठती धुन

निर्मल वर्मा हिंदी के सुपरिचित कथा लेखक और चिंतक हैं। "ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है..." निर्मल वर्मा के डायरी लेखन का वह अंश है जो उनके रानीखेत प्रवास के समय सन् 1975 ई में लिखा गया और अब 'धुंध से उठती धुन' नामक पुस्तक में संकलित है। "धुंध से उठती धुन' निर्मल वर्मा की डायरी, नोट्स, जर्नल्स, यात्रा-संस्मरण से भरी एक ऐसी पुस्तक है जिसमें सन् 1973 ई से 1995 ई तक की स्मृतियां - चाहे वे पुस्तकों की हो या प्रवास की , हिले-मिले लोगों की हो या हिलते-डुलते पेड़ों की, धूप की हो या बारिश की, अकेलेपन की हो या एकांत की, मन की दुनिया की हो या बाहरी ज़हान की — दर्ज हैं। इस पुस्तक का पहला संस्करण राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना से सन् 1997 में प्रकाशित हुआ।

अपने डायरी लेखन के बारे में निर्मल वर्मा ने लिखा है – "मेरे साथ कुछ ऐसा होता है कि दिल्ली के बाहर जाते ही, जब मेरा बाकी लिखना छूट जाता है, अर्से से छूटी हुई डायरी शुरू हो जाती है। क्या यह एक तरह की क्षति-पूर्ति है, घर के अभाव को बेघर अनुभवों से भरने सी लालसा?"(61) अपनी डायरी पर नजर पड़ते ही निर्मल वर्मा के मन में 'एक अजीब-सा सुख और कृतज्ञता का भाव उमग आया।' आगे लिखा — "यह डायरी मेरी कितनी यात्राओं और यातनाओं में साथ रहीं है; अच्छे-बुरे समय में मेरा साथ निभाती रही है।"(62) यह डायरी यात्राओं में भले साथ रही हो, पर इसमें दर्ज अनुभवों को 'यात्रा-संस्मरण' कहना ठीक न होगा, क्योंकि निर्मल वर्मा के अनुसार "अगर ये 'यात्रा हैं, तो वे स्थानों की न होकर 'मन' की है, अंतः प्रतिक्रियाओं का लेखा-जोखा....।"(63) निर्मल वर्मा डायरी को एक साहित्य विधा के तौर पर स्वीकार करते हैं। वे मानते हैं कि "डायरी में हमें लेखक की ऐसी आंतरिक अनुभूतियों की परतें खुलती दिखाई देती हैं, जो शायद उनके उपन्यासों-कहानियों में नहीं आ पातीं।"(64) डायरी

निर्मल वर्मा के लिए अतीत की स्मृतियों को टीपने और जमा करने का जरिया नहीं बल्कि वर्तमान में दुबारा जीने की कोशिश है। लिखा है — "जो मेरा अतीत है, वह इन डायरियों का वर्तमान है, इसलिए पुरानी पोथियों से उतारकर इन्हें दुबारा से टीपते हुए मेरा कालबोध बार-बार हिचकोले खाने लगता है। यह नहीं लगता, हम अतीत की पुनरावृत्ति कागज़ पर कर रहे हैं, बल्कि यह लगता है कि हम वर्तमान में अपने को दुबारा से व्यतीत कर रहे हैं, कि वर्तमान के इस क्षण में – जब मैं डायरी टीप रहा हूं — मैं एक दूसरा वर्तमान जी रहा हूं। कभी-कभी तो मुझे गहरा अचरज होता था कि क्या यह सचमुच मेरे साथ घटा था, जिसे मैं टीप रहा हूं?(65) निर्मल वर्मा की डायरी निर्जीव भले हो 'अजीवंत' नहीं है। यह डायरी भी उन 'अचर चीजों' की तरह ही वफ़ादार है जो "अपने अकेलेपन को हम पर शहीद कर देती हैं ताकि उनके साथ रहकर हम सुरक्षित महसूस कर सकें।"(66)

"ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है......." की शुरूआत ही एक टीप से होती है — "कहते हैं, आदमी को पूरी निर्ममता से अपने अतीत में किए कार्यों की चीर-फाड़ करनी चाहिए, ताकि वह इतना साहस जुटा सके कि हर दिन थोड़ा-सा जी सके। लेकिन जब वह अपने अतीत को देखता है, तो एक अंधेरी सुरंग में चला जाता है, हर कदम किसी पाप, और फिर उससे भी बड़े पाप की ओर बढ़ता हुआ। प्रलोभन और अभिमान (लोभ और अहंकार) का पाप, जीवन से अधिक और जीने की वासना का पाप, सैकड़ों वासनाएं आग की लपट पर मंडराती हुई, एक-एक पतिंगे की तरह जलती हुई।"(67) जीवन और विचार को क्रमशः संयमित, संतुलित और समृद्ध करने के लिए लगातार पुनरीक्षण जरूरी है। एक अंतराल के बाद आत्मनिरीक्षण से हमें अहसास होता है कि चलते-चलते कहां भटक गए थे, किन कार्यों ने जीवन गति में अवरोध ला दिया, किन रिश्तों ने उर्जा नष्ट की, किन प्रलोभनों से बचा जा सकता था। इस अहसास के साथ यह उम्मीद जगती है कि अब हम जो जियेंगे, जो करेंगे, जो विचारेंगे तो ऐसी गलतियां न होंगी। लेकिन अफसोस कि एक दूसरे अंतराल के बाद इसी आशय का एक दूसरा एहसास फिर घेर लेता

है कि अतीत के फैसले कितने बचकाने थे। निर्मल वर्मा ने लिखा — "जब हम अपने अतीत के बारे में सोचते हैं, तो अविश्वसनीय किस्म की हैरानी होती है कि हम ऐसी मूर्खतापूर्ण गलतियां कैसे कर सकते थे, जिन्हें हम आज इतनी सफाई से देख सकते हैं — हम अपनी आज की नियति को कितनी आसानी से टाल सकते थे – एक चिट्ठी भेजकर, फोन पर कुछ शब्द कहकर, दूसरे शहर जाकर–लेकिन हमने ऐसा कुछ नही किया – मानों उन दिनों हम किसी स्वप्न-सरीखी धुंध में चल रहे थे किसी तर्क पूर्ण निर्णय के परे – जहां हमारा कोई बस नहीं था.....।"(68) इस सोच की विडंबना को रेखांकित करते हुए निर्मल वर्मा आगे लिखते हैं — "विडंबना यह है कि आज जो मैं तर्क और चेतना की रोशनी में कर रहा हूं — वर्षों बाद यह भी एक धुंधला स्वप्न जान पड़ेगा, और वे आज जो मैं निर्णय ले रहा हूं — वे तब — भविष्य में उतने ही मूर्खतापूर्ण जान पड़ेंगे, जितने अतीत में किए हुए बाकी सब फैसले.....।" निष्कर्ष कि (निर्मल वर्मा के शब्दों में) — "अतीत हमें कुछ नहीं सिखाता, वह उसी तरह तर्कातीत है, जैसे दिन के उजाले में पिछली रात का स्वप्न......।"(69) कहना न होगा कि अतीत के कार्यों से मिली सीख बदले-अगले संदर्भों में हमारे काम की हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है।

अपनी डायरी में निर्मल वर्मा आगे टीपते हैं – "लेकिन सब नहीं – कुछ वासनाएं लौ के ऊपर अपने एकांत में झुलसती रहती हैं जबकि वह उनके मरने की प्रतीक्षा और प्रार्थना करता रहता है। उनके मरण की प्रतीक्षा करता हुआ लेकिन उनकी राख में स्वयं को मिटाने की प्रार्थना करता हुआ, ताकि वह उसमें से अपनी खोई हुई पवित्रता को प्राप्त कर सके....... यह कैसा अंर्तविरोध है, वहअपनी पवित्रता को उन्हीं वासनाओं की राख से पुनर्जीवित करना चाहता है, जिन्हें वह छोड़ना नहीं चाहता या शायद चाहता है लेकिन छोड़ नहीं पाता।"(70) अपनी वासनाओं से चाहे-अनचाहे अलग होकर आदमी वहीं नही रह जाता जो वह पहले था।

'चीड़ों पर चांदनी' के लेखक निर्मल वर्मा रानीखेत में हर जगह दिखाई देने वाले चीड़ के पेड़ों से न तो 'आत्मीय रिश्ता' जोड़ पाते हैं और न ही उनके प्रति आकर्षित हो पाते हैं। अपने

बड़े भाई चित्रकार रामकुमार के नाम 6 अगस्त 1975 को रानीखेत से निर्मल वर्मा की लिखी चिट्ठी उनकी मनः स्थिति का बयान कुछ यूं करती है — "मेरा काम धीरे-धीरे अपने ढर्रे पर चलने लगा है — सुबह के समय मैं ऊपर की ऐटिक के सामने ही बैठ जाता हूं — वही चीड़ के पेड़, वही हवा और दूर मिसेज दयाल की कोठी — आसपास घूमते कुत्ते और दूर से सुनाई देते फिल्मी गाने पता नहीं क्यों वही चीजें रोज़ देखता हूं लेकिन हर रोज वे नयी लगती हैं। मन ऊबने के बजाय हमेशा उन्हें ज्यों का त्यों देखकर आश्वस्त सा हो जाता है। फिर इस जगह के साथ भी लगाव हो गया है – इसमें एक तरह से continuity है, शुरू गर्मियों से लेकर जब तुम सब लोग यहां थे — पतझड़ के शुरू होने तक जब मैं यहां अकेला बचा रहा हूं।"(71) रानीखेत से ही सन् 1975 ई में अपने बड़े भाई 'राम' को संबोधित अगली चिट्ठी में निर्मल वर्मा ने लिखा — "चीड़ की पत्तियों की ख़ुशबू, जो पिछले दिनों दब गयी थी, अब हवा में तिरती रहती है। मेरा स्वास्थ्य भी पहले से बेहतर है, हालांकि लम्बी सैर के बाद हल्की-सी थकान महसूस होने लगती है।"(72) यह भी कि — "मेरा काम धीरे-धीरे शुरू हो गया है।" और — "यहां अब तुम लोगों के जाने के बाद काफ़ी अकेलापन हो गया है।"(73) ज़ाहिर है निर्मल वर्मा का स्वास्थ्य इन दिनों पूरी तरह ठीक नहीं था। 6 अगस्त 1975 वाली चिट्ठी में भी ज़िक्र है कि - – "मेरा स्वास्थ्य अब बिल्कुल ठीक है।"(74) स्वास्थ्य के अलावा भीषण अकेलापन भी उन्हें त्रस्त कर रहा था। शायद इसी वजह से निर्मल वर्मा अपनी डायरी में लिखते हैं — "ज्यों ही मेरी नज़र किसी देवदार पर पड़ती है, मेरे भीतर बरबस कुछ उगमने लगता है — क्या है यह? क्या कोई बचपन की स्मृति मुझे इनकी तरफ खींचती है? शिमला में कितने देवदार दिखाई देते थे।"(75) देवदार निर्मल वर्मा को शिमला की उन वादियों में लिये जाते हैं, जहां उनका बचपन बीता था। देवदार निर्मल वर्मा को रानीखेत के अकेलेपन से उठाकर शिमला के पारिवारिक अपनेपन में ले जाते हैं।

निर्मल वर्मा रानीखेत प्रवास के दौरान अपनी पिछले वर्षों की मनोदशा को जर्मन कवि

रिल्के की पंक्तियों के माध्यम से डायरी में प्रकट करते हैं। निर्मल वर्मा रिल्के को उद्धृत करते हैं — "मेरा आंतरिक जीवन पिछले महीनों में अव्यवस्थित हो गया है, और मेरा मौजूदा अकेलापन एक तरह से मेरे मन पर बंधी-प्लास्टर पट्टी है, जिसके भीतर कुछ धीरे-धीरे तिरोहित हो रहा है।"(76) निर्मल वर्मा 'जो है उससे बेहतर चाहिए' की तर्ज पर अपने जीवन और लेखन को और अधिक नियमित करने की आकांक्षा रखने वाले लेखक हैं। 3 अप्रैल, 1993 को लिखी डायरी में निर्मल जी ने अपनी आकांक्षा प्रकट की है — "सात-आठ वर्ष लिखने पर एकाग्र; एक सात्विक अनुशासन की आवश्यकता, काम करने की अंदरूनी विवशता, जिसका दैनिक अनुकरण करना, हर घड़ी, हर पल-अगर मुझे कुठ ठीक से करना है।"(77) निर्मल वर्मा ताउम्र अपने को और अधिक व्यवस्थित करने की कोशिश करते रहे।

अकेलापन निर्मल वर्मा को बेहद सालता है। इस अकेलेपन से निर्मल जी का जीवन जितना रिक्त हुआ, लेखन उतना ही सिक्त हुआ। अकेलेपन पर निर्मल जी के विचार पन्ने-दर-पन्ने मिलते हैं। शिमला में 12 जून, 1973 को अपनी डायरी में दर्ज करते हैं — "अकेले रहने की एक तसल्ली है कि हमारे पास सिवा अपने के कुछ नहीं है, और मैं अपने से सिवा लिखने के — कुछ भी नहीं कर सकता।"(78) अपनी बात की पुष्टि के लिए निर्मल वर्मा उस सलाह को उद्धृत करते हैं जो रिल्के ने एक युवा कवि को दी थी — "रात की सबसे खामोश घड़ी में अपने से पूछो क्या लिखना अनिवार्य है? उत्तर 'हां' में होना चाहिए, अगर तुम अकेले रह रहे हो और सिवा अपने के, कहीं और नहीं मुड़ सकते।"(79) जून 1973 में शिमला इंस्टीट्यूट में लिखी डायरी में दर्ज है — "जीवन में असफल होने का एक फायदा यह है कि मेरे पास अपने होने के अलावा और कुछ नहीं है और जब मेरे पास सिर्फ 'मैं' हूं तो मैं उसे सिर्फ लिखने के लिए ही इस्तेमाल कर सकता हूं।"(80) 13 नवंबर 1974 की डायरी का यह अंश — "मैं यह भी भूल गया हूं कि मुझे अब अकेलेपन में कैसा लगता है। अब मैं उसके बारे में सोचता भी नहीं मानो वह मेरे 'होने' का ही अंग है, एक छाया जो हर जगह मेरे पीछे चलती है, एक अवसन्न

छाया, आत्मा से जुडी हुई।"(81) इतना लिखने के बाद निर्मल वर्मा एक पंक्ति उद्धृत करते हैं — "तुम उस दुनिया में रहते हो, जो तुमने बनाई है।"(82) 2 दिसंबर 1974 को अपनी डायरी में लिखते हैं — "जिस दिन मैं अपने अकेलेपन का सामना कर पाऊंगा – बिना किसी आशा के — ठीक तब मेरे लिए आशा होगी, कि मैं अकेलेपन में जी सकूं।" इसके ठीक नीचे अपनी जीवन स्थिति का बयान करने के लिए बीथोवन को उद्धृत करते हैं — "मेरे कोई मित्र नहीं है, मुझे अपने साथ अकेले रहना होगा लेकिन मैं जानता हूं कि मेरी कला में ईश्वर दूसरों से अधिक मेरे निकट है।"(83) 12 जनवरी 1982 को निर्मल वर्मा ने डायरी में लिखा — "अकेलापन सहनीय है, अच्छा भी है, अगर वह बराबर बना रहे और बाहर दुनिया में जाने का प्रलोभन उसके सातत्य को न तोड़ सके, क्योंकि जब तुम अपने अकेलेपन को अकेला छोड़कर दुनिया में लौटते हो, तो वह कुछ इस तरह से घायल दिखता है, जैसे हमने बाहर जाकर उससे विश्वासघात किया हो — और फिर उसके साथ सुलह करने में बहुत समय खर्च करना पड़ता है।"(84) दुनिया पछुआ हवा की तरह है जिसके संपर्क में आते ही अकेलेपन का दबा दर्द फिर से टीसने लगता है। अकेला आदमी किसी और से रिश्ते की डोर में बंधा नहीं होता, अतएव किसी और से कोई चाहना भी नहीं होती। अकेला आदमी अपने सहारे अपना जीवन जीता है। निर्मल वर्मा का अकेलेपन के सिवाय कोई नहीं है। 3 अप्रैल, 1993 की डायरी में लिखा — "आस्था के बाकी सब स्त्रोत सूख गए हैं। कोई झूठा अवलंबन नहीं। यह बात मुझे निराश नहीं करती। मैं अपने को अकेलेपन की स्वच्छ और सूखी रोशनी में पाता हूं।"(85) इस अकेलेपन ने निर्मल जी में लेखन-क्षमता भर दी। यह लेखन ही निर्मल जी का एकमात्र आसरा है, जो उन्हें किसी चिंता या परेशानी से उबारता है। अकेलापन आदमी को निस्संगता से भर देता है। यह उसे वस्तुपरक भी बनाता है, ताकि आदमी अकेलेपन के अच्छे पहलुओं को आत्मसात कर सके, जी सके। पढ़िए निर्मल जी की सन् 1985 की डायरी का यह अंश — "मैं हमेशा अकेलेपन पर शोक करता हूं — लेकिन अकेलेपन का सौंदर्य और सात्विक श्रृजुता? इसका छोटा-सा किंतु संपूर्ण अनुभव आज शाम हुआ....... सर्दियों का अंधेरा और तीन तरफ से बंद मेरा कमरा -

- सिर्फ़ दरवाजे के परे कुछ तारे दिखाई दे जाते हैं, बाहर बिल्कुल शांति है और मैं प्रस्त पढ़ रहा हूं। न बच्चे, न गृहस्थी, न कोई मित्र — कोई नहीं। मैं और मेरी किताब......।"(86) अकेलापन भी आदमी को कुछ दे सकता है। अफसोस कि आदमी ले नहीं पाता। निर्मल वर्मा अपनी इसी डायरी में ताकीद करते हैं — "कितने दुख की बात है कि जब हम अकेले रहते हैं, तो हम उस मौके को खो देते हैं, जब हम तटस्थ होकर अपने छोट-छोटे अनुभवों, और सेंसेशन को दर्ज कर सकते थे — आखिर यही एक 'मुआवजा' है जो अकेलापन हमें दे सकता है।"(87) निर्मल वर्मा इसरार करते हैं कि लेखन के लिए अकेलापन चाहिए और अकेलापन को लेखन चाहिए। काफ्का ने खेलिस के नाम लिखे पत्र में लिखा है — "मुझे अपने लेखन के लिये जो चीज चाहिए – वह है एकांत। किंतु एक संन्यासी का एकांत नहीं, वह काफी नहीं होगा; मुझे चाहिए — एक मृतक का एकांत। इस अर्थ में लेखन मेरे लिए एक ऐसी नींद है, जो मृत्यु से भी ज्यादा गहरी और जिस तरह हम मृतक को उनकी कब्र से खींचकर बाहर नहीं ला सकते उसी तरह रात की घड़ी में मुझे अपनी डेस्क से खींचकर कोई नहीं ले जा सकता।"(88) निर्मल वर्मा महसूस करते हैं कि आदमी से भी अधिक अकेली यह धरती है, जिसमें आदमी रहता है। निर्मल वर्मा की नज़र में समूचे अंतरिक्ष के अंतहीन फैलाव में बंद सरीखी "अपनी धरती को बाहर से देखना — उसे देखकर हमें अपने दुख, शिकायतें, पीड़ाएं — कितनें क्षुद्र जान पड़ते हैं। पहली बार महसूस होता है, कि हमारा अकेलापन अंतरिक्ष में घूमती इस धरती के अथाह अकेलेपन से छिटककरक हममें आ टपका है, जिसके कारण वह अंतरिक्ष में उतनी ही अकेली है , जितना हम — इस दुनिया में।"(89) अंतरिक्ष में चक्कर लगाती गोल बिंदी सरीखी धरती पर ध्यान पड़ते ही निर्मल जी की पीड़ा के पल बीतने लगते हैं। सन् 1985 ई. वाली डायरी में ही निर्मल वर्मा ने लिखा है — "मैंने बहुत अरसे तक धरती की इस गोल बिंदी का फोटो अपनी दीवार से चिपकाए रखा था — जब मुझे किसी बात पर गहरा क्लेश होता था — तो उसे देखकर वह अपने-आप लुप्त हो जाता था। खाली स्पेस में घूमती हुई वह धरती मुझे उतनी ही शांति देती थी, जितनी एक संत की निर्वैयक्तिक ध्यानावस्थित अवस्था ....।"(90) अकेलापन, शांती,

ध्यानमुद्रा-आदमी, धरती संत की लेकिन निर्मल वर्मा के अनुसार – "एक अकेले व्यक्ति और संन्यासी के अकेलेपन में भारी अंतर है — एक अकेला व्यक्ति दूसरों से अलग होकर अपने में रहता है; संन्यासी अपनेपन से मुक्त होकर दुनिया में जीता है। मैं अभी तक इस दूसरे अकेलेपन में जीने की सामर्थ्य नहीं जोड़ पाया हूं.....।"(91) निर्मल वर्मा के जीवन में व्यक्ति का अकेलापन अवांछित है, लेकिन संन्यासी का अकेलापन आकांक्षित है। अगर जीवन अपनों और अपनेपन से मुक्त है तो मृत्यु भी ऐसी ही मुक्त होनी चाहिए। ताकि मरने के बाद किसी का विछोह किसी को मरणासन्न न कर दे। अपनी 1985 वाली डायरी में निर्मल वर्मा दर्ज करते हैं — "जीवन में अकेलेपन की पीड़ा भोगने का क्या लाभ यदि हम अकेले में मरने का अधिकार अर्जित न कर सकें? किंतु ऐसे भी लोग हैं जो जीवन भर दूसरों के साथ रहने का कष्ट भोगते हैं ताकि अंत में अकेले न मरना पड़े।"(92)

"ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है........" में निर्मल वर्मा रिल्के को पुनः उद्धृत करते हैं — - "मैंने जो व्यवसाय चुना है, उससे ज़्यादा ईर्ष्यालु शायद कोई और चीज़ नहीं। यह जानते हुए भी कि मेरी कोई भिक्षुक की जिंदगी नहीं है, जो मौनेस्टरी की कोठरी में सारी दुनिया से अलग-थलग रहता है, मुझे धीरे-धीरे अपने इर्द-गिर्द एक मौनेस्टरी बनानी चाहिए ताकि मैं दीवारों से घिरा हुआ दुनिया के सामने खड़ा हो सकूं, सिर्फ ईश्वर और संत मेरे भीतर हो, बहुत सुंदर औजारों और प्रतिमाओं के साथ......।"(93) कोई अच्छा लेखक ईर्ष्यालु इस अर्थ में होता है कि वह अपने जीवन और कर्म से लगातार क्षुब्ध रहता है जबकि दूसरों के जीवन कर्म से — चाहे भिक्षुक का हो, या संन्यासी का या शिकारी का — कभी न कभी लुब्ध होता है। निर्मल वर्मा को भी एक सर्द ठहरी रात के अंधेरे को देखकर ऐसा लगता है कि "जापानी भिक्षुक ऐसे ही शांत और ध्यानावस्थित क्षणों में अपनी कुटिया में बैठ हायकू लिखा करते होंगे...।"(94) निर्मल वर्मा के अनुसार - "एक लेखक अपने-अपने सर्वोत्तम और सौभाग्याशाली क्षणों में — संन्यासी और शिकारी दोनों ही होता है। संन्यासी प्रेम करता है — सृष्टि के जीवों, प्राणियों,

वस्तुओं से —— रह गंध उसे लुभाती है, हर दृश्य उसके लिए प्राणवान है, हर स्वर कोई रहस्यमय अर्थ लिए आता है। वह सबके लिए आसक्त है — क्योंकि किसी एक से नहीं बंधा है — इसलिए उसकी आसक्ति से इतनी गहरी तटस्थता उपजाती है। संन्यासी के लिए जो सृष्टि है — शिकारी के लिए वही जंगल है — असंख्य आवाज़ों, पदचापों, छिपी हुई सांसों और उड़ती हुई गंधों से घिरा हुआ.... वह एक-एक को पहचानता, देखता, सुनता, और सूंघता हुआ आगे बढ़ता जाता है — और फिर अचानक अपना ध्यान एक गंध, एक आवाज़, एक 'ट्रेल' पर केंद्रित कर देता है; फिर वह सब भूल जाता है, सब भटकनों और भटकावों को छोड़ सिर्फ़ एक का पीछा करता है...... जब तक उसे पा नहीं लेता। संन्यासी की निस्संगता से ही शिकारी की एकाग्रता उत्पन्न होती है — एक महान कलाकृति में सर्वस्व के प्रति लगाव और एक के प्रति एकाग्रता, दोनों ही देखे जा सकते हैं।"(95) अपने लेखन से गहरा असंतोष निर्मल वर्मा में मिलता है। इसकी वजहें कई हैं। 18 अक्टूबर, 1982 की डायरी में लिखते हैं — "जब तक हम यह न जान पाएं कि हम 'लिखने' से क्या पाना चाहते हैं, तब तक हम कागज की खाली स्पेस में एक दूसरे वाक्य तक निर्थक् भटकते रहते हैं।"(96) लेखक को शिकारी की तरह अपना लक्ष्य मालूम होना चाहिए। ईमानदार और सच्चा लेखन तभी संभव है जब जरूरत पड़ने पर लेखक में ईमानदारी से स्वंय की जांच पड़ताल का भा साहस हो। अपने जन्मदिन के तीन दिन बाद 6 अप्रैल, 1982 को निर्मल जी ने डायरी में लिखा — "अपने लिखने की धुरी मैं अभी तक नहीं बना पाया और यह शायद सबसे अधिक शोक और शर्म की बात है क्योंकि मुझे वे सभी सुविधाएं प्राप्त थी, जिनके लिए एक अभावग्रस्त लेखक तरसता है, — एक घर, नियमित आय, सुंदर और शांत शहर, एक नॉर्मल मनःस्थिति में जीने की स्थिरता। इस देश में ऐसी सुविधाएं कितने लोगों को मिल पाती है?"(97) भारतीय समाज में ऐसी स्वीकारोक्तियों दुर्लभ हैं। इस तरह बोपाल प्रवास के दौरान 31 दिसंबर 1982 को निर्मल वर्मा के मन में — "अपराध की यह कोंचती भावना कि यहां रहकर मुझ पर इतना सार्वाजनिक पैसा खर्च होता है, जिसे मैं 'डिजर्व' नहीं करता -- न अपने काम से, न अपनी उपस्थिति से।"(98) यह हिंदी के एक संत लेखक का 'निर्मल'

मन है। यह मन सफलता के मोह से मुक्त है और असफलता की चिंता से परे। सन् 1985 में निर्मल वर्मा ने लिखा — "जिस दिन मैं यह सोचकर भी लिखता रहूंगा, कि इसे पढ़कर सब लोग – मेरे मित्र और हितौषी अफसोस करेंगे — और आलोचक हंसी उड़ाएंगे — तभी मैं सफलता के चक्कर से मुक्त होकर कुछ ऐसा लिख पाऊंगा — जिसका कोई अर्थ है।"(99) सार्थक लेखन के लिए लेखन-संहिता जरूरी है। निर्मल वर्मा की मानो तो — "जो सचमुच लेखन के दायित्व के प्रति ईमानदार है, उसकी गंभीरता को महसूस करता है, उसे उसी संयम और साधक के रूप में रहना चाहिए जैसेकोई समाज सुधारक या संन्यासी रहता है। लिखना बड़े त्याग की अपेक्षा रखता है, एक नियमित संयमित जीवन लेखक के लिए अतिआवश्यक होता है – यह मेरी अपनी धारणा है। आप चाहें कि जीने का भोग-विलास, ऐश्वर्य भी उठाएं और लिखने की प्रसिद्धि भी तो यह असम्भव है। हमारे यहां लेखक की बड़ी रोमांटिक, वोहेमिलन छवि है। मगर ऐसे लोग कुछ कविताएं अच्छी लिख लेते हैं, फिर खत्म हो जाते हैं। एक लम्बा, सार्थक, श्रेष्ठ लेखक जीवन बिताने के लिए कुछ नियम-संहिता रखनी पड़ेगी, एक वाक्य लिखना, एक कविता या कहानी लिखना, उसके लिए एक अनुभव, उस अनुभव को शब्दों में बांधने की क्षमता, उसके भीतर विवेक का बराबर सक्रिय रहना — कई तत्वों के मिश्रण से एक अच्छी रचना जन्म लेती है। यह सम्भव हो सके, इसके लिए एकांत साधना तथा आत्मचिन्तन की जरूरत होती है।"(100) इसे पढ़कर जना जा सकता है कि निर्मल वर्मा क्यों सार्थक और श्रेष्ठ लेखकों की कतार में गिने जाते हैं। एक शिल्प सजग लेखक होने के बावजूद निर्मल वर्मा को मालूम है सिर्फ शिल्प के सहारे कोई बड़ा लेखक नहीं बन सकता। निर्मल जी की नजर में — "असली लेखक शायद वह होता है, जो गहराई में जाकर चीजों, घटनाओं, व्यक्तियों के अंर्तसंबधों की थाह पा सके। उसे पीड़ायुक्त, पेचीदा प्रश्नों को अपने से पूछना होगा जैसे 'क्या हमारे जीवन में कोई चीज पवित्र है?' या 'हम क्यों दूसरों के प्रति इतना निर्भय, इतना क्रीर होते हैं? या ऐसे ही प्रश्न जो जीवन के अंधेरे पहलुओं को उजागर करते हैं। अगर लेखक इन प्रश्नों को भूलकर केवल शिल्प या क्राफ्ट के बारे में चिंता करते रहे, तो वह कभी महान लेखक नहीं बन सकेगा।"(101)

साहित्य को सम्पन्न बनाने के लिए सही उत्तरों को खोज के साथ सही और महत्वपूर्ण प्रश्नों को पछना भी जरूरी है। साथ ही निर्मल वर्मा के अनुसार एक लेखक के लिए "सबसे जरूरी चीज अपनी 'आवाज' पहचानना है। हम सबकी अपनी एक विशिष्ट आवाज होती है जिसे हम दूसरों की अनुकृति में या अपने अंहभाव के कारण या अन्य विमुखों में फंसकर दबाए रहते हैं हममें इतना साहस होना चाहिए कि वह आवाज जैसी भी हो, उसे हू-ब-हू वैसे ही 'सुन' सकें जैसी वह है, क्योंकि उसके बिना हम कुछ भी नहीं हैं। अपनी आवाज में असफल होना दूसरों से उधार ली गई आवाज में सफल होने की अपेक्षा कहीं बेहतर है।"(102) जो लेखक 'अपनी आवाज' स्वंय सुन सकता है वही दूसरों को 'अपनी आवाज' सुना भी सकता है। जो लेखक अपने पूर्ववर्ती प्रिय, महान लेखकों की आवाजों को पहचानना औप उन्हें एक-दूसरे से अलगाना सीख जाता है, वहीं 'अपनी आवाज' को भी सुन और पकड़ सकता है। हर अच्छा लेखक अपने प्रिय लेखकों की करह लिखने की कोशिश करते हुए अपनी तरह लिखने लगता है। सन् 1985 की डायरी 'रास्ते पर' में निर्मल वर्मा ने लिखा — "हर छोटा लेखक 'मौलिक' होने चेष्टा करता है, जहां वह अपने पूर्ववर्ती लेखकों से अलग कुछ लिख सके....... किंतु जो सही अर्थों में 'मौलिक' होता है वह हमेशा अपने प्रिय, महान लेखकों की नकल करना चाहता है ——किंतु लिखने की घड़ी में वे — महान लेखक विनयशील, शालीन मित्रों की तरह उससे बिदा ले लेते हैं और उसे अकेले कमरे में छोड़ देते हैं — जो उसका नरक है — और मौलिकता का उद्गम स्त्रोत भी।"(103) अपनी साहित्यिक विरासत से वाकिफ होकर ही इसमें कुछ नया जोड़ा जा सकता है।

'ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है.......' में आगे निर्मल वर्मा स्तान्ढाल की पुस्तक 'ब्रूनार्ड की जिंदगी' का उल्लेख करते हैं। इस पुस्तक को पढ़ते हुए निर्मल जी को ऐसा महसूस होता है मानो वे किसी पहाड़ी झरने का साफ-शीतल जल पी रहे हों। ऐसी ही अनुभूति निर्मल जी को किसी सरल और गहरे सत्य से साक्षात्कार होने पर भी होती है। लेकिन सत्या को उपलब्ध करना

सच में कितना मुश्किल है। अपने 63 वें जन्मदिन के एक दिन पहले निर्मल जी 2 अप्रैल 1993 को अपनी डायरी में लिखते हैं – "जब सचमुच सब बीत गया है, लगता है, कोई असल सत्य पाना अब भी शेष है। वह एक संयमित, सात्विक, जीने में उपलब्ध हो सकेगा, जिसकी झलक कभी विटगेन्शटाइन, कभी सिमोन वेल, कभी फ्लावे में पाकर मैं इतना अभिभूत हो जाता था। या रिनपोचे के व्यक्तित्व में.....।"(104) किसी पुस्तक को पढ़ते हुए जब-जब निर्मल वर्मा को ऐसा अनुभव होता है, जो साहित्यिक, एस्थेटिक अनुभव से कहीं ज़्यादा ऊंचा, कहीं ज्यादा गहरा हो, जो उन्हें उनके अस्तित्व की सीमाओं से परे ले जाए, जो उनके बातर पवित्रता का उज्जवल बोध जगा देगा, तब-तक उन्हें शुद्ध और शीतल जल की झाल में स्नान करने की, ताजी चमकीली हवा में गहरे तक सांस लेने, ताजे पानी के सोते सूखी तपती आत्मा को नहला देने की अनुभूति होती है।

रानीखेत में साझ की बेला जब हवा तेज गति से बहती है, चीड़ों ती टहनियां झूमने लगती है, निर्मल वर्मा स्वंय से निस्संग होकर वृक्ष, तारे और चमकती चांदनी के संग हो लेते हैं। इसी क्षण निर्मल जी को महसूस होता है कि कोई विराट बोध हाथों में आकार फिसल गया। निर्मल वर्मा ईश्वर में विश्वास नहीं करते। फिर भी निर्मल जी मानना है कि ईश्वर अगर है तो वह अपने को विभिन्न रूपों और विविध रंगों में उसी तरह प्रकट करता है जिस तरह प्रकृति अपने को प्रकट करती है। रात में निकला चांद हो या बादलों में छिपा चांद, तारे हों या सूरज या बादल — ये सभी निर्मल वर्मा को ईश्वर के ही विविध रूप-रंग जान पड़ते हैं। रात हो या दिन निर्मल वर्मा जब भी उन्हें देखते हैं अपने को उस 'रहस्य' के बेहद निकट पाते हैं, जो 'ईश्वर' नाम के चारों ओर फैला हैं। जब रात के समय इस 'रहस्य' से निर्मल वर्मा का साक्षात्कार होता है (यानी जब-जब वे चांद को देखते हैं), आत्मा पर जमा पपड़ी धुल जाती है। आत्मा उस 'रहस्य' वृत के घेरे में आ जाती है। पवित्रता का अहसास होता है। इस समय और कैसा महसूस होता है, 27 अगस्त, 1976 को लिखी निर्मल जी की डायरी के इस अंश से शायद स्पष्ट हो —– "पहाड़ पर चढ़ना

एक विचित्र अनुभव है, जैसे कमरे में छोड़ देते हैं — जो उसका नरक है — और मौलिकता का उद्‌गम स्त्रोत भी।"(105) अपनी साहित्यिक विरासत से वाकिफ होकर ही इसमें कुछ नया जोड़ा जा सकता है।हम एक-एक कदम ईश्वर की तरफ जा रहे हैं। शुरू में हमें यह अभियान होता है कि हम पहाड़ को जीत रहे हैं, लेकिन चढ़ते-चढ़ते जब हम चोटी के पास पहुंचने लगते हैं, तो भीतर एक गहरी अकिंचनता का भाव उमड़ने लगता है। किंतु शिखर पर पहुंतते ही बिल्कुल बदल जाते हैं, न अभिमान रहता है, न अकिंचनता —— दोनों ही ऊंचाई की पवित्र हवा में घुल जाते हैं। चोटी पर खड़े होकर आदमी और पहाड़ एक हो जाते हैं, ईश्वर के पास ाहुंचकर मनुष्य स्वंय ईश्वर हो जाता है।"(106) 5 नवंबर, 1992 की डायरी में निर्मल वर्मा ने 'आत्मा' के बारे में लिखा है — "अपने साथ रहना कितना कठिन है! लेकिन आत्मा हमारे में कर्मकांडों में योग नहीं देती; वह अलग-थलग रहती है। वह मैं हूं, लेकिन वह मेरी नहीं है। उसे मुझ पर शर्म आती है। ईश्वर से सब प्रार्थाएं — अंधकार के अंकरतम क्षणों में — असल में आत्मा की प्रार्थाएं है हमारे लिए। वह हममें है, लेकिन हमसे अलग है। हमारे दुःख का साम्राज्य और हमारी दरिद्रता ग्की गहराई इस पर निर्भर करती है, कि हम अपनी आत्मा से कितना दूर हैं। वह हमें देखकर कातरता में मुंह मोड़ लेती है, हमारी दयनीयता पर दया खाती है, सिहरती है, प्रतीक्षा करती है।"[46] निर्मल वर्मा अपने आत्म (सेल्फ़) "लेकर क्या कहना, जहां जीने के लिए सिर्फ एक जिंदगी मिली है। जितना गिरा हुआ मेरा सेल्फ़, मेरा 'मैं' है, उतना ही उसे लेकर यातना है, ही उससे ऊपर उठने की कोशिश होनी चाहिए।"(107)

निर्मल वर्मा को अपना 'आत्म' ही नहीं, अपनी 'नज़र' भी विपित्र जान पड़ती है। निर्मल वर्मा के अनुसार लेटे हुए, बैठे हुए, चलते हुए, घूमते हुए, यात्रा करते हुए जो प्रभावशाली दृश्य या दृश्यगत प्रभाव नज़र आते हैं, उन्हें शब्दों में ढ़ालने की या उनके अनुसार शब्द ढूढने की कोशिश नहीं करनी चाहिए! जो बचने लायक होंगे, 'प्रभावशाली' होंगे, वे आत्मा के गहरे तल में समा जाएंगे, और किसी एकांत बेला में अवसर पाकर पन्ने पर तिरने लगेंगे।

रानीखेत प्रवास के दौरान एक बार निर्मल वर्मा की नींद अचानक आधी रात में खुल गई। वे बाहर बरामदे में आए और देखा महसूस किया — "गहरी निस्तब्धता। मैं अपनी सांसें सुन सकता था। हवा नहीं थी, चांद भी नहीं। सिर्फ़ तारे और निस्तब्धता — और पेड़ निश्चल खड़े थे, एक-दूसरे से सटे हुए, उनकी फुनगियां तारों को छुची हुई। सबसे विस्मयकारी बात यह थी कि जब वे अपने लिपटे, स्थिर थे, शांत और आत्म-अंतर्निष्ट, मैनें अपने को उनके बीच अनामंत्रित नहीं पाया, कोई बाहर का दर्शक नहीं, बल्कि हमेशा उनके साथ रहनेवाला जीव, उतना ही अलग-थलग और अकेला, जितना वे थे, किंतु अपने अकेलेपन में उनसे अलग नहीं।"(108) आसमान से तारे, तारों से पेड़, पेड़ों से धरती, मिट्टी से मनुष्य — सब एक-दूसरे से जुड़कर भारतीय सांस्कृतिक जीवन का संपूर्णत्व रचते हैं। मनुष्य इस संपूर्ण सृष्टि के केन्द्र में नहीं, बल्कि इलका एक हिस्सा है। भारतीय प्राकृतिक परिवेश की समग्रता को कान्हा-किसली के वन में हाथी पर बैठे निर्मल वर्मा ने शेर से साक्षात्कार के समय भी महसूस किया — "पहली बार के मनुष्य होने रा चमत्कारिक अनुभव हुआ और यह अनुभव इन मानवादियों के अहंकार से बहुत अलग था, जो मनुष्य को सृष्टि के केन्द्र में रखते हैं, और उसे सब चीजों का मापदंड मानते हैं। इसके विपरीत उस क्षण मुझे लगा जैसे मैं जंगल के अन्य वन्य प्राणियों के बीच मनुष्य हूं, किसी से बड़ा-छोटा नहीं, बल्कि सबके साथ परिवेश में करता हुआ, जिसमें शेर अपने खाने में मस्त है, हाथी शान्त भाव से खड़ा है, गोड़ युवक बीड़ी पी रहा है और सारा जंगल सुबह की धुप में झिलमिला रहा है। यह परिवेश पवित्र था, क्योंकि सब समवेत रूप से सांझा कर रहे थे और वे ऐसा कर सकते थे क्योंकि इनमें से हर कोई सहज-रूप से अपनी जड़ों से जुडा था।"(109) ऐसी ही जीवंत, सांस लेती, स्पांदिक होती, अपने में सबको भाव से समेटे सृष्टि से हमारा अद्भुत साक्षात्कार हिंदी के सुपरिचित कथाकार विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास 'दिवार में एक खिड़की रहती थी' में भी होता है। मनुष्य सबके साथ रहकर ही पने साथ रह सकता है। संपूर्णता के जीवन में ही जीवन की संपूर्णता है। संपूर्णता के संसार में कोई केन्द्र नहीं है, क्योंकि सब केन्द्र में हैं। निर्मल वर्मा के अनुसार — "मनुष्य दुनिया के बीच में है, प्राणियों में एक

प्राणी, जीवों में एक जीव, वह दूसरों को देखता है, तो दूसरे भी उसे देखते हैं।"(110) इसलिए निर्मल वर्मा को रानीखेत में उस आधीरात को अकेलेपन में पीड़ा का नहीं बल्कि गरिमा का अहसास हुआ। कारण कि उन्होंने खुद के अपनी 'जड़ों' से उतना जुड़ा महसूस किया, जितना वृक्ष धरती से और नक्षत्र आकाश से जुड़े हैं। मनुष्यों के बीच रहते हुए भी मनुष्य को अकेलेपन का अहसास होता है अगर वह मनुष्यों के साथ न हो। सभी मनुष्य सृष्टि के भीतर रहते हैं, लेकिन सृष्टि सभी मनुष्यों के भीतर नहीं रहती। अगर मनुष्य अपने प्राकृतिक परिवेश की संगत में रहे तो परिवार या संसार में अकेले रहते हुए भी उसे अकेलेपन का अहसास नहीं होगा। संबंध इतना गहरा और प्रगाढ़ है कि ईश्वर में विश्वास नहीं करने वाले निर्मल वर्मा पेसोआ की पंक्तियों के कहारे कहते हैं — किंतु ईश्वर अगर फूल और वृक्ष है

पहाड़ियां, सूरज और चांदनी,

तब मैं उसमें विश्वास करता हूं

तब मैं हर घड़ी उसमें विश्वास करता हूं

तब मेरा समूचा जीवन एक प्रार्थना और यज्ञ है

आंखों और कानों में रचता एक समागम। (111)

निर्मल वर्मा को लगता है कि फूल, वृक्ष, पहाड़ियां, सूरज, चांदनी आदि ही वे विविध रूप हैं जिनके माध्यम से ईश्वर खुद को व्यक्त करता है। हिंदी आलोचना के शिखर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार प्रकृति-प्रेम के बगैर देश-प्रेम संभव नहीं — "यदि किसी को अपने देश से सचमुच प्रेम है तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, कण, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा; सबको वह चाह भरी दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके विदेश में आंसू

बहाएगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है.... वे यदि दस बने ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें, तो उनसे पूछना चाहिए कि भाइयों, बिना रूप परिचय का यह प्रेम कैसा?"(112) निर्मल वर्मा 'भारत व्याकुल' लेखक तो हैं ही, आचार्य शुल्क की कसौटी पर 'भारत-प्रेमी' लेखक भी ठहरते हैं। निर्मल वर्मा की 7अगस्त, 1981 की डायरी के अनुसार जर्मन कवि गोयटे के लिए भी "मनुष्य, प्रकृति और अन्य जीवों के बीच कोई अलगाव मानी नहीं रखता था – वह सृष्टि की अखंडित, अद्वैत समग्रता और उसकी सार्वभौमिक प्राणवता में विश्वास रखते थे। वह मनुष्य को उतना ही कौतूहल से देखते थे, जितना पौधों को। ..... गोयटे उन समस्त सिद्धांतों को ठुकराकर चले थे जिन पर उन्नीसवीं शती ने अपने आदर्श खड़े किये थे – विज्ञान, प्रकृति पर विजय पाने की लालसा, प्रगति में अंधविश्वास..... दो शब्दों में कहें तो तर्क बुद्धि द्वारा प्रकृति का औपनिवेशीकरण।"(113) दरअसल यूरोप में रेनेसां के बाद मनुष्य केन्द्रित संस्कृति का सूत्रपात हुआ। माना गया कि मनुष्य प्रकृति से ऊपर है। इससे प्रकृति जीवन की वह मर्यादा नष्ट हो गई, जिसमें हर प्राणी, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे अपनी स्वायत्त गरिमा में जीते थे। सिर्फ मनुष्य के जीवन को सजाने-संवारने-समृद्ध करने के लिए प्राकृतिक उपादान अंधाधुंध तरीके से तहस-नहस किये जाने लगे। मनुष्य और प्रकति के बीच जो सहभागिता का संबंध था कि दोनों एक-दूसरे के पोषक हैं, खंडित हो गया। प्रकृति और उसके परिवेश के प्रति मनुष्य के उत्कट लगाव के अभाव से यूरोप में पर्यावरण का संकट शुरू हुआ। यूरोपीय रिनेसां-कालीन व्यक्ति में अहम् का बोध अधिक भर गया। अहम् के प्रभुत्व ने व्यक्ति को केन्द्रित और आत्मकेन्द्रित बना दिया। अपने अहम् से उन्मत व्यक्ति के लिए प्रकृति महज एक उपभोग वस्तु हो गई। यह आत्मचेतना ही है जो व्यक्ति को उसके होने का अहसास भी कराती है और उसमें अहम् का बोध भरकर उसे अपने पवित्र प्राकृतिक परिवेश से अलग खड़े होने पर विवश भी करती है। ऐसा व्यक्ति सृष्टि के साथ अपने को उस सहजता से नहीं जोड़ पाता जिस सहजता से पशु, पक्षी, पेड़, हवा, तारे, चंद्रमा जुड़े होते हैं। निर्मल वर्मा का मानना है कि स्वातंत्र्योत्तर भारत में पश्चिम की देखादेखी जो

विकास की योजनाएं और औद्योगीकरण की राह चुनी गई, उसमें प्रकृति, मनुष्य और संस्कृति के नाजुक संतुलन को बनाए और बचाए रखने पर ध्यान नहीं दिया गया। फलस्वरूप भारत का सांस्कृतिक जीवन, जिसमें मनुष्य अपनी धरती, जंगल, पहाड़, नदी से आत्मीय रूप से जुड़ा था, आहिस्ते-आहिस्ते नष्ट होने लगा। कहना न होगा कि निर्मल जी की नजर में एक भारतीय के लिए "गंगा महज एक नदी नहीं, जैसे हिमालय सिर्फ एक पहाड़ नहीं, वाराणसी और वृंदावन महज शहर नहीं हैं।"(114) ऐसे में भारतीय सांस्कृतिक जीवन में एक नदी का सूखना, एक गांव का उजड़ना, एक जंगल का नष्ट होना, महज पर्यावरण से जुड़ी घटनाएं नहीं बल्कि प्राकृतिक परिवेश की पवित्रता और समग्रता को नष्ट करने वाली सांस्कृतिक दुर्घटना भी है।

रानीखेत में एक सुबह निर्मल वर्मा उठे तो बादीश गिरती दिखाई दी। गिरती हुई बारिश में बारिश को देखने के सिवाय निर्मल वर्मा से कुछ भी नहीं होता। बाहर झरते-झरते बारिश निर्मल जी के भीतर भी झरने लगती है। लिखा – "बारिश के दिनों में हमेशा चेखव की कहानियां याद आती हैं, पानी में भीगे, बूंद-बूंद टपकते पेड़ों की ड़ालें, धुंधली-सी रोशनी, जिंदगी के बारे में एक अजीब-सी उदासी.....।"(115) ऐसे में कुछ लिखना कैसे संभव है!

रानीखेत में जंगल के सन्नाटे को कुत्ते-झींगुरों की आवाजें और बारिश की टप-टप तोड़ती नहीं बल्कि और गहरा करती है। शांत-सुप्त नदी या तालाब के जल में कंकड़ छोड़ते ही जल की भंवर और गहराई का अंदाज होने लगता है। रात के सन्नाटे में उभरती आवाजें किसी के जीवन में फैले सन्नाटे को भी उभारने लगती हैं।

कुछ किताबें किसी के अकेलेपन और उसकी पीड़ा को इस तरह भरती हैं कि प्रेयसी-सी जान पड़ती हैं। रिल्के के पत्र निर्मल वर्मा के ऐसे सम्बल हैं जिन्हें पढ़ते हुए उनके अकेलेपन के भीतर से उम्मीद की वह लौ उठती है, जो उनके 'दिवास्वप्नों' शायद साकार कर सके या कोई अर्थ दे सके। रिल्के के अकेलेपन से निर्मल वर्मा के अकेलेपन को सहारा मिला। जर्मन कवि रिल्के

की कविता 'दूनो शोकगीत' अकेलेपन की भयावह जटिलता को बड़े मार्मिक ढंग से उजागर करती है। हिंदी के सुपरिचित कवि केदारनाथ सिंह ने रिल्के के बारे में लिखा है – "जब कभी मैं रिल्के के बारे में सोचता हूँ तो मेरे सामने एक ऐसे उदास पार्क का दृश्य खुल जाता है, जिसमें एक अकेली बेंच है। उस पर एक धुंधली-सी आकृति बैठी है – चुपचाप और कुछ चिंतित-सी।"(116) अकेलेपन ने रिल्के और निर्मल वर्मा दोनों को खूब मथा।

निर्मल वर्मा ईश्वर में विश्वास नहीं करते, पर जब भी 'ईश्वर' पद-लिखते हैं, उनकी आत्मा के गहरे तल में एक स्नेहिल-सी भाप उठने लगती है। नाम और रूप के संबंध पर, पद और पदार्थ के संबंध पर रैक्व ने भी सवाल पूछा था। प्रश्न हिंदी कवि केदारनाथ सिंह भी पूछते हैं –

कि आखिर रिश्ता क्या है

'नमक' ध्वनि

और नमक के स्वाद में?(117)

शब्द अर्थ का स्पर्श करता है कि नहीं? अगर करता तो 'आग' शब्द उच्चरित करने वाले की जीभ उच्चारण करते ही जल जाती।

अगर कोई एक इच्छा पूरी करने का वरदान दे तो निर्मल वर्मा बार-बार एक ही वरदान मांगना चाहेंगे – ऐसा वरदान "जो मेरे जीवन और लेखन के बीच की खाई पाट सके। मेरे लिए इससे बड़ा सुख कोई नहीं, इससे गहरी कामना कोई नहीं।"(118) निर्मल वर्मा रहने और कहने के बीच की दूरी को मिटा देना चाहते हैं। सो डायरी में इस वरदान पर लिखा – "पहली बार मैं वह लिख रहा हूं जो महसूस करता हूं, वह नहीं जो मुझे महसूस करना चाहिए।"(119)

कथनी और करनी के बीच की दूरी चो मिटाने की आकांक्षा 12 जनवरी, 1982 को लिखी निर्मल जी की डायरी में दर्ज है क्योंकि यह दूरी उन्हें शूल सी चुभती है — "अधिकांश समय यह बात मुझे सालती रहती है, कि जो मैं लिखता और जैसी ज़िंदगी जीता हूं उनके बीच कितनी गहरी खाई है। अगर मैं इन दो खंडित टुकड़ों को अपने में नहीं जोड़ सकता, तो कम-से-कम यह तो कर सकता हूं, कि मेरे 'सेल्फ' का वह भाग जो लिखता है, उसके लिए दु:ख उठा सके, जो जीता है।"(120) इस आकांक्षा और उत्कट नैतिकता बोध की वजह से ही भोपाल में निराला सृजनपीठ पर आसीन रहते हुए 31 दिसंबर, 1982 को निर्मल वर्मा के मन में "अपराध की यह कोंचती भावना कि यहां रहकर मुझ पर इतना सार्वजनिक पैसा खर्च होता है, जिसे मैं 'डिजर्व' नहीं करता — न अपने काम से न अपनी उपस्थिति से। व्यर्थता का बोध — कभी-कभी इतना तीखा, कि मन होता है कि जो एक अन्य वर्ष मुझे यहां रहने के लिए दिया गया है, उसे स्वीकार न करूं।"(121) हिंदी कवि मुक्तिबोध भी ऐसे नैतिक-प्रश्नों से आजीवन घिरे और परेशान रहे —

अब तक क्या किया

जीवन क्या जिया!!

..... बहुत - बहुत ज्यादा लिया,

दिया बहुत - बहुत कम। — (अंधेरे में) (122)

निर्मल वर्मा जैसा ईमानदार 'कन्फेसन', जो संत होने की सीढ़ी है, कितना दुर्लभ है! निर्मल वर्मा जब भी ऐसी शख़्सियतों के लेखन से रू-ब-रू होते हैं, जिनके जीवन और लेखन के बीच खाई न थी, खुद उन के भीतर भी इस दरार को पाटने की आकांक्षा उफनने लगती है। ऐसे शख़्स आईने की तरह हैं, जिनके सामने खड़े होते ही निर्मल वर्मा को अपने व्यक्तित्व का अंदाज होने लगता है। 3 फरवरी, 1982 की डायरी में ऐसी ही तीन शख़्सियतों का उल्लेख

निर्मल वर्मा ने किया है – "मुझे ये तीन व्यक्ति क्यों इतना अभिभूत करते हैं, क्यों उनके बारे में सोचते हुए मुझे अपना आपा इतना दरिद्र, इतना कड़ा, इतना कीचड़ में सना जान पड़ता है। शायद इसलिए कि तीनों के ही – विटगेन्श्टाइन, गांधीजी, सिमोनवेल के जीवन और चिंतन के बीच कोई खाई नहीं थी। उनका व्यक्तित्व एक साफ, अकंपित लौ की तरह मेरे भीतर के पाप और अंधेरे को काट जाता है। मेरी कोई प्रार्थना है तो यही (मैंने आज तक सच्चे मन से कोई मनोकामना नहीं मांगी, सिवाय इसके) कि मैं अपने लेखन और जीवन, को वैसे ही पवित्र और एकाग्र साधना में समर्पित कर सकूं, उतनी ही संपूर्ण और अबाध रूप में – जैसी उनमें थी।"(123) विटगेन्श्टाइन के जीवन के बारे में या एक छोटी अंग्रेज बच्ची को लिखे गांधीजी के पत्र को पढ़ते हुए निर्मल वर्मा के भीतर 'पवित्रता का उज्वल बोध' होता है, 'निष्कलंकता' का एहसास होता है, लगता है 'ताजे पानी के सोते ने उनकी सूखी तपती आत्मा को नहला' दिया हो। गांधीजी के बारे में सोचते हुए निर्मलजी को "अपनी हर चीज़ भारी और बोझ लदी जान पड़ती है – अपने कपड़े, अपनी देह की मांस-मज्जा, अपनी आत्मा भी और सबसे ज्यादा – अपना अब तक का सब लिखा हुआ।"(124) निर्मल वर्मा की नजर में ये तीनों संत लेखक हैं।

अपनी अद्‌भुत तर्कक्षमता से अपार लोकप्रियता हासिल करनेवाले गोरखनाथ के अनुसार - - पुस्तकों की बात दोहराना 'कहना' है। अनुभव प्राप्त करना 'रहना' हैं। इस अनुभव के बिना,रहने के बिना, कहना, पुस्तक-ज्ञान, व्यर्थ है। "कहना सरल है, रहना कठिन है। रहने के बिना कहना व्यर्थ है।"(125)

निर्मल वर्मा भी ऐसी ही निर्मल-आकांक्षा, जहां 'कहने' और 'रहने' में मेल हो, से भरे हिंदी लेखक हैं।

संदर्भ-ग्रंथ सूची - 6

1. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना, तीसरा संस्करण, सन् 1988 ई०, पृष्ठ संख्या - 8
2. वर्मा, निर्मल, वे दिन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना, दूसरा संस्करण, पुनर्मुद्रित, सन् 1997 ई०, पृष्ठ संख्या- 178
3. वर्मा, निर्मल, चीड़ों पर चाँदनी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना, तीसरा संस्करण, सन् 1988 ई०, पृष्ठ संख्या - 15
4. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -36
5. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -46
6. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -118
7. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -56
8. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -17
9. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -25
10. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -32-33
11. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -164
12. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -164
13. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -164
14. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -99
15. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -71
16. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -71
17. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -71-72
18. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -70
19. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -70
20. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -76
21. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -76
22. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -76
23. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -144
24. उपरोक्त, पृष्ठ संख्या -145

25. उपरोक्त, पृ० सं० - 145

26. उपरोक्त, पृ० सं० - 145

27. उपरोक्त, पृ० सं० - 146

28. उपरोक्त, पृ० सं० - 83

29. उपरोक्त, पृ० सं० - 85

30. उपरोक्त, पृ० सं० - 85

31. उपरोक्त, पृ० सं० - 85

32. उपरोक्त, पृ० सं० - 20

33. उपरोक्त, पृ० सं० - 20

34. उपरोक्त, पृ० सं० - 21

35. वर्मा, निर्मल, हर बारिश में, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण : सन् 1989 ई०, पृ० सं० - 6

36. उपरोक्त, पृ० सं० - 5

37. उपरोक्त, पृ० सं० - 5

38. उपरोक्त, पृ० सं० - 11

39. उपरोक्त, पृ० सं० - 11

40. उपरोक्त, पृ० सं० - 11-12

41. उपरोक्त, पृ० सं० - 12

42. उपरोक्त, पृ० सं० - 12

43. उपरोक्त, पृ० सं० - 12

44. उपरोक्त, पृ० सं० - 12

45. उपरोक्त, पृ० सं० - 12-13

46. उपरोक्त, पृ० सं० - 58

47. उपरोक्त, पृ० सं० - 13

48. उपरोक्त, पृ० सं० - 16

49. उपरोक्त, पृ० सं० - 16

50. उपरोक्त, पृ० सं० - 16

51. उपरोक्त, पृ० सं० - 18

52. उपरोक्त, पृ० सं० - 18

53. उपरोक्त, पृ० सं० - 19

54. उपरोक्त, पृ० सं० - 20

55. उपरोक्त, पृ० सं० - 20

56. उपरोक्त, पृ० सं० - 22

57. उपरोक्त, पृ० सं० - 21

58. उपरोक्त, पृ० सं० - 27

59. उपरोक्त, पृ० सं० - 32

60. उपरोक्त, पृ० सं० - 32-33

61. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राज्कमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 07

62. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 185

63. उपरोक्त, पृ. सं. – 07

64. वर्मा, निर्मल, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1999 ई., पृ. सं. – 90

65. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण

सन् 1997 ई., पृ. सं. – 07

66. उपरोक्त, पृ. सं. – 185

67. उपरोक्त, पृ. सं. – 37

68. उपरोक्त, पृ. सं. – 192

69. उपरोक्त, पृ. सं. – 192

70. उपरोक्त, पृ. सं. – 37

71. गिल, गगन, (संपादक), प्रिय राम, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पहला संस्करण सन् 2006 ई., पृ. सं. – 95

72. उपरोक्त, पृ. सं. – 97

73. उपरोक्त, पृ. सं. – 98

74. उपरोक्त, पृ. सं. – 96

75. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली – पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 37

76. उपरोक्त, पृ. सं. – 37-38

77. उपरोक्त, पृ. सं. – 181-182

78. उपरोक्त, पृ. सं. – 13

79. उपरोक्त, पृ. सं. – 13

80. उपरोक्त, पृ. सं. – 17

81. उपरोक्त, पृ. सं. – 18

82. उपरोक्त, पृ. सं. – 19

83. उपरोक्त, पृ. सं. – 19

84. उपरोक्त, पृ. सं. – 75

85. उपरोक्त, पृ. सं. – 182

86. उपरोक्त, पृ. सं. – 191

87. उपरोक्त, पृ. सं. – 192

88. उपरोक्त, पृ. सं. – 203-204

89. उपरोक्त, पृ. सं. – 193
90. उपरोक्त, पृ. सं. – 193-194
91. उपरोक्त, पृ. सं. – 202
92. उपरोक्त, पृ. सं. – 187
93. उपरोक्त, पृ. सं. – 38
94. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 192
95. उपरोक्त, पृ. सं. – 202
96. उपरोक्त, पृ. सं. – 57
97. उपरोक्त, पृ. सं. – 81-82
98. उपरोक्त, पृ. सं. – 85
99. उपरोक्त, पृ. सं. – 191
100. वर्मा, निर्मल, साहित्य का आत्म-सत्य, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - इलाहाबाद -पटना, पहला संस्करण सन् 2006 ई., पृ. सं. – 79
101. वर्मा, निर्मल, मेरे साक्षात्कार, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1999 ई., पृ. सं. – 91
102. उपरोक्त, पृ. सं. – 91
103. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 200
104. उपरोक्त, पृ. सं. – 180
105. उपरोक्त, पृ. सं. – 26-27
106. उपरोक्त, पृ. सं. – 169
107. उपरोक्त, पृ. सं. – 169
108. उपरोक्त, पृ. सं. – 39
109. वर्मा, निर्मल, ढलान से उतरते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, दुसा संस्करण सन् 1988 ई., पृ. सं. – 80
110.

111. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 39

112. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, चिंतामणि, द्वितीय भाग, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, चतुर्थ सभा संस्करण, संवत 2053 वि., पृ. सं. – 30-31

113. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 70-71

114. वर्मा, निर्मल, ढलान से उतरते हुए, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-पटना, दूसरा संस्करण सन् 1988 ई०, पृ० सं० 92

115. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 70

116. पचौरी, सुधीश, उत्तर - केदार, प्रवीण प्रकाशन, महरौली - नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1997 ई. पृ. सं. – 226

117. सिंह, डॉ. केदारनाथ, उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, प्रथम संस्करण सन् 1995 ई., पृ. सं. – 139

118. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 40

119. उपरोक्त, पृ. सं. – 41

120. उपरोक्त, पृ. सं. – 75

121. उपरोक्त, पृ. सं. – 85

122. मुक्तिबोध, गजानन माधव, प्रतिनिधि कविताएँ (संपादक – अशोक वाजपेया), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, चौथी आवृत्ति, सन् 2001 ई., पृ. सं. – 141

123. वर्मा, निर्मल, धुंध से उठती धुन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - पटना, पहला संस्करण सन् 1997 ई., पृ. सं. – 77

124. उपरोक्त, पृ. सं. – 185

125. शर्मा, डॉ रामविलास, भारतीय संस्कृति और हिन्दी - प्रदेश, भाग - 2, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1999 ई., पृ. सं. – 171